उद्देश्य

...ा संरक्षण तथा प्रसार।
...ा विवेचन।
...ा अनुसंधान।
...और कला का पर्यालोचन।

सूचना

१—प्रति वर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

२—पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण और सुविचारित लेख प्रकाशित होते हैं।

३—पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्तिस्वीकृति शीघ्र की जाती है और उनकी प्रकाशन संबंधी सूचना एक मास में भेजी जाती है।

४—लेखों की पांडुलिपि कागज के एक ओर लिखी हुई, स्पष्ट एवं पूर्ण होनी चाहिए। लेख में जिन ग्रंथादि का उपयोग या उल्लेख किया गया है, उनका संस्करण और पृष्ठादि सहित स्पष्ट निर्देश होना चाहिए।

५—पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। उनकी प्राप्तिस्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है। परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ७०
संवत् २०२२
अंक ४

वार्षिक मूल्य १०.००
इस अंक का २.५०

काशी नागरी प्रचारिणी सभा

विषय सूची

१. असमिया वैष्णवधर्म का क्रमविकास
—डा० कुबेरनाथ राय ... १

२. ढोला मारू रा दूहा में सामाजिक जीवन
—श्री कृष्णबिहारी सहल ... २१

३. वर्णरत्नाकर की श्रेणी के परवर्ती वर्णकग्रंथ
—डा० भुवनेश्वरप्रसाद गुरुमैता ... ३७

४. शब्दाकलन के सिद्धांत तथा कामायनी का शब्दभंडार
—श्री जगदीशप्रसाद कौशिक ... ७५

५. अन्यनाट्य शिल्प—श्री शांति मल्लिक ... ८८

६. डोगरा राजवंश और संस्कृत—श्री गंगादत्त शास्त्री 'विनोद' ९८

पौराणिकी

(आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के पत्रसंग्रह से) ... १११

विमर्श

१. 'ब्रह्मवैवर्त की प्रतीकित राधा'—डा० संपूर्णानंद ... ११६

२. प्रेमरत्न और उसकी रचयित्री—श्री उदयशंकर दुबे 'शील' १२०

चयन १२३

निर्देश १२५

समीक्षा ... ...

व्यास अभिनंदन ग्रंथ—श्री कैलाशचंद्र भाटिया ... १२६

सुलतान और निहालदे—श्री विश्वनाथ त्रिपाठी ... १२८

हिंदी व्यंग्य विनोद—श्री श्रीप्रसाद ... १२६

काव्यात्मक बिंब—श्री 'प्रवासी' ... १३१

हिंदी साहित्य : युग और धारा—श्री कुँवर जी अग्रवाल ... १३२

आपेक्षिकता की मूल संकल्पनाएँ ,, ... १३३

जुलूस ,, ... १३३

विश्लेषण ,, ... १३४

*

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ७०] माघ, संवत् २०२२ [अंक ४

'असमिया वैष्णवधर्म का क्रमविकास'

कुबेरनाथ राय

•

फर्कुहर, आर० जी० भंडारकर, बी० के० गोस्वामी, एच० सी० रायचौधरी, एस० के० मित्र, एस० राधाकृष्णन्, कामिल बुल्के, पलुस्कर आदि कम या बेश, इस तथ्य पर सहमत हैं कि वैष्णवभक्ति आंदोलन का पूर्व रूप सन् ईस्वी से बहुत पहले भागवत धर्म के रूप में प्रचलित था और तमिल देश के आलवार संतों द्वारा इसे रागात्मक संस्कार मिला। यद्यपि भागवत धर्म में भी श्रद्धा का ही प्राधान्य था, पर इस श्रद्धा को प्रवाह रूप में लाने का श्रेय द्रविड़ संतों को ही है। यह एक लंबी प्रक्रिया थी जिसके अंत में श्रीनाथमुनि आते हैं और आलवार-गीतों का 'दिव्य प्रबंधम्' नाम से संपादन करते हैं। इनके पौत्र ये यामुनाचार्य जिनके शिष्य स्वामी रामानुजाचार्य हुए। इन्होंने अपनी प्रतिभा के बल पर इस समस्त भावधारा को विशिष्टाद्वैत नाम से दार्शनिक पृष्ठभूमि दी। स्वामी रामानुजाचार्य ११वीं शती में पैदा हुए थे और उनके पीछे भागवत धर्म की दो हजार वर्ष लंबी परंपरा है एवं आलवारों का आगमन ईसा की तीसरी शताब्दी में होता है तथा अंत ६वीं शताब्दी में।[1]

रामानुज स्वामी ने श्री संप्रदाय की स्थापना की। इनके बाद वैष्णव आंदोलन बड़ी शक्ति से बढ़ा और समस्त भारत में अपनी शाखा-प्रशाखा फैलाता हुआ छा गया। उसका यह दक्षिण से उत्तर की ओर आगमन नहीं प्रत्यावर्तन था। इसका जन्म उपनिषद्काल या उसके बाद किंतु बुद्ध से पूर्व हुआ। यद्यपि इसे राष्ट्रीय महत्व ईस्वी सन् के प्रारंभ के कुछ ही पूर्व मिला होगा। बुद्ध ने

१. दे० श्रीकृष्ण स्वामी आयंगार 'अर्ली हिस्ट्री आव वैष्णविज्म इन साउथ'।

वैदिक यज्ञविधान के विरुद्ध क्रांति की थी, भागवत धर्म के विरुद्ध नहीं। भागवत धर्म को जनाश्रय रहा होगा पर बुद्धकाल में अभिजात वर्ग वैदिक धर्म का प्रेमी था। ऐसा लगता है कि वैष्णव एवं शैवमत वैदिक धर्म के विरुद्ध सजातीय प्रतिक्रिया हैं और सांख्य-बौद्ध विजातीय। प्रथम यह वैष्णव धर्म भागवत धर्म के रूप में उत्तर में उत्पन्न हुआ फिर दक्षिण की ओर बढ़ता गया। ईसापूर्व प्रथम शती में 'नाना घाट' वाले शिलालेख से ज्ञात होता है कि यह नासिक तक पहुँच गया था 'चाइना शिलालेख' से ज्ञात होता है कि द्वितीय ईस्वी शती में यह कृष्णा नदी तक पहुँच गया था। ईस्वी ३५० के लगभग समुद्रगुप्त की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि यह तमिल देश तक पहुँच चुका था। उसी समय वहाँ आलवार संतों की परंपरा का प्रारंभ हुआ।[2]

श्री रामानुजाचार्य के आगमन के बाद यह दक्षिण देश की भावसाधना में रूप निखार कर फिर उत्तर लौटा। अतः यह प्रत्यावर्तन था। एक प्रकार से तो यह उत्तर के किसी भाग में कभी भी समाप्त नहीं हुआ था।

भागवत धर्म

वैष्णव धर्म के आदि रूप 'भागवत धर्म या 'सात्वत धर्म' की जानकारी के लिये हमें वैष्णव तंत्र के आगम ग्रंथों का सहारा लेना पड़ता है। इनमें 'वैखानस' और 'पांचरात्र' मुख्य हैं। बौद्धावतार के पूर्व वैखानस आगम का ही प्राधान्य था। पर बौद्धधर्म के उदय के बाद यह कुछ ही क्षेत्रों तक सीमित हो गया। इसमें चिंतन एवं ज्ञान कांड अत्यंत अल्प था, कर्मकांड एवं विधिनिषेध का ही अधिक प्राधान्य था। पांचरात्र आगम जिसमें कई संहिताएँ अंतर्भुक्त थीं, ज्ञानकांड प्रधान है। इन संहिताओं में सात्वत संहिता, जयाख्य संहिता एवं अहिर्बुध्न्य संहिता मुख्य हैं। शुंगों, सातवाहनों एवं गुप्तों के समय में इस वैष्णव धर्म को राजाश्रय भी मिला। गुप्तों की तो उपाधि ही परम भागवत' है।

परंपरानुसार पांचरात्र संहिताओं की संख्या २१५ है। पर आजतक १३ ही प्राप्त हो सकी हैं जिनमें मात्र ६ देवनागरी में लिखित हैं, शेष तेलुगू में हैं। 'अहिर्बुध्न्य संहिता' में तथ्यों का विवेचन अन्य की अपेक्षा स्पष्टतर है।[3]

२. डा० एच० सी० रायचौधरी 'द अर्ली हिस्ट्री आव वैष्णविज्म'।

३. श्री बलदेव उपाध्याय : 'भारतीय दर्शन'।

'महाभारत' के 'नारायणीयोपाख्यानम्' (शांति पर्व) में पांचरात्र विचार-धारा का विवेचन वर्तमान है। कभी एक पांचरात्र उपनिषद भी थी। कहते हैं कि नारायण ने पाँच शिष्यों को एक एक करके, पाँच रात्रियों तक इसका उपदेश दिया इसी से इसे पांचरात्र कहते हैं। इनमें ज्ञानकांड, साधनापद्धति, विग्रह विवेचन एवं अर्चाविधान तथा आचारकांड का प्रतिपादन है। एक लोक-प्रिय ग्रंथ 'नारद पांचरात्र' भी है जिसमें राधाकृष्ण उपासना का भी विवेचन है। पर यह १४वीं शती या उसके बाद की रचना है। मूल पांचरात्र संहिता की विविध संहिताएँ ही मूल आगम का निर्माण करती हैं और वे अत्यंत प्राचीन हैं।

पांचरात्र के अनुसार एक ही देवता नारायण के तीन पहलू हैं : वासुदेव (विभु-सर्वव्यापी), परमात्मा (सब आत्माओं में महान्), भगवान् (सृष्टिकर्ता), दूसरे शब्दों में एक ही देवता नारायण इन तीन उपाधियों से समय समय पर कार्य करते हैं। इसमें सबसे अधिक पूजित उपाधि है वासुदेव। नारायण की प्रिया हैं लक्ष्मी जो नित्य तथा उनसे अविभक्त हैं जैसे चंद्रमा से ज्योत्स्ना। भगवान् वासुदेव चार व्यूहों में प्रस्फुटित हैं। इन्हीं चारों को मिलाकर व्यूहावतार बनता है। वासुदेव (परमात्मा या भगवान्) से संकर्षण स्फुटित होता है, संकर्षण से प्रद्युम्न एवं प्रद्युम्न से अनिरुद्ध। संकर्षण का अर्थ है जीवात्मा, प्रद्युम्न मन का प्रतीक है और अनिरुद्ध अहंकार का। ऐसा लगता है भागवत मत में प्रारंभ से ही दो प्रकार की साधना चलती थी। प्रथम तो श्रद्धाप्रधान जिसमें नारायण लक्ष्मी की पूजा होती थी और जो कालांतर में 'भक्ति' में परिणत हो गई। दूसरे प्रकार की पूजा दार्शनिक भूमि पर आधारित व्यूहपूजा थी जिसका स्वरूप रहस्य साधना की तरह, ज्ञानमार्गी रहा होगा। वासुदेव पीठों की स्थापना एवं वैष्णवतंत्र की उत्पत्ति आदि इसी की सहवर्तिनी हैं। हठयोग और सहस्रारचक्र भले ही यहाँपर न हो, परंतु सहस्रनाम, संपुट पाठ, बीजमंत्र, यंत्र ताबीज आज भी प्रचलित हैं। इस तरह हम कल्पना कर सकते हैं कि कोई ज्ञानमार्गी पूजापद्धति या गुह्यसाधना भी अवश्य वर्तमान थी जो भक्तिपक्ष के प्रवाह में लुप्त हो गई।

जीव भगवान् से ही निकलता है अतः वह भी सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् है। पर वह अपने स्वरूप को भूलकर जगत में दुःख भोगता है। उस समय भगवान् जिनका स्वभाव 'करुणामय' है उसपर स्नेह करते हैं और वह सन्मार्ग पर चलकर परमपद पा जाता है। यह परमपद मुक्ति है। पर इसका अर्थ परमात्मा में लय नहीं बल्कि 'सारूप्य' और 'सामीप्य' है। वह उन्हीं जैसा चतुर्भुज रूप पाकर 'सारूप्य' बनता है एवं भगवान के समीप वैकुंठधाम में रहने का उसे अवसर मिलता है। यही 'सामीप्य मुक्ति' है। इस परमपद को पाने का मार्ग है 'शरणा-गति'। इसी शरणागति को रामानुज ने प्रपत्ति कहा। यही भक्ति की आधारशिला

है। इस पांचरात्र की साधनापद्धति को ही कालांतर में 'दास्यभक्ति' कहा गया । यही दास्यभक्ति अपने रागात्मक रूप में, १४वीं, १५वीं शती के भक्त कवियों में अथवा पूर्व के आलवार संतों (३री शती से ६वीं शती) में सख्य, वात्सल्य और माधुर्य रूपों में प्रकट हुई।

इस पांचरात्र धर्म की संज्ञा है भागवत धर्म या सात्वत धर्म। ईसा पूर्व दूसरी शती में स्थापित यूनानी राजदूत का गरुडस्तंभ (बेसनगर), जिसमें वह गर्व से अपने को विष्णुभक्त घोषित करता है, उक्त काल में उत्तर भारत में इसके लोकप्रिय होने का प्रमाण है, अन्यथा एक विदेशी क्यों इसकी ओर आकृष्ट होता। हजरत मसीह का जन्म इस घटना के २०० वर्ष बाद और हजरत मुहम्मद का का ८०० वर्ष बाद होता है। शुंग, सातवाहन, गुप्तकाल में तो न केवल विष्णु बल्कि अवतारों की पूजा भी, विशेषतः वामन, राम, कृष्ण, नृसिंह एवं महावाराह की, प्रचलित हो चुकी थी।

११वीं शती में श्रीमद् रामानुजाचार्य के नेतृत्व में भागवतधर्मका पुनर्जागरण वैष्णव धर्म के रूप में हुआ जिसके केंद्रीय देवता हैं लक्ष्मीनारायण। स्कंद पुराण में विष्णु का कथन है कि मैं घोर कलि के आने पर दक्षिण देश चला जाऊँगा एवं गंगा गोदावरी में वास करेगी। पुराणकार ने प्रकारांतर से वैष्णव आंदोलन का केंद्र दक्षिण जाने की बात की ओर इंगित किया है। उस समय शैवों एवं शंकराचार्य के प्रखर तेज के सामने उत्तर से दक्षिण तक बौद्ध, जैन आदि धर्मों की ज्योति म्लान हो चुकी थी। दो सौ वर्ष बाद इस धरती में इस्लाम के बीज पड़े। पर इसके पूर्व कि वह सारी भारतभूमि पर फैल जाय, दक्षिण से आए भक्ति के प्लावन ने अपनी पूरी शक्ति से उत्तर की भूमि को आप्लावित कर दिया। फलतः इस्लाम की विजय सीमावर्ती क्षेत्रों तक ही सीमित रह गई। जिसके सामने यहूदी, ईसाई, मिस्री, अरबी, ईरानी, सीरियन, मंगोल आदि संस्कृतियाँ एक पर एक ध्वस्त होती गईं उसे आधे पंजाब पर ही रोक देने का श्रेय भक्ति को ही है। इसके बाद ५०० वर्षों के लंबे आंतरिक संघर्ष के फलस्वरूप कुछ क्षति हुई परंतु सीमावर्ती कुछ क्षेत्र को छोड़कर पराजय कहीं नहीं हुई। प्रोफेसर टॉयनबी का कथन है कि इस्लाम भारत को जीतने का प्रयत्न ५ सदियों तक करता रहा परंतु उसे विजय सीमावर्ती प्रांतों में १६४७ में जाकर मिली। शेष भारत अपराजित रहा। यह दो शक्तिशाली संस्कृतियों की टकर थी। तलवार के टूट जाने से आत्मा पराजित नहीं होती इसका उदाहरण भारत का सांस्कृतिक संघर्ष है। इसका बारह आना श्रेय भक्ति और वैष्णव आंदोलन को है।

भागवत धर्म और असमप्रदेश[४]

असमिया वैष्णव धर्म पर अंग्रेजी या असमिया में लिखा गया है, और अभी तक सर्वांगपूर्ण ग्रंथ जो संपूर्ण पहलुओं को एक स्थान पर उपस्थित करे, एक भी नहीं है। प्रथम, द्वितीय और अंतिम को छोड़कर शेष पुस्तकें[५] महापुरुषिया संप्रदाय के प्रारंभ की समस्याओं से ही संबंध रखती हैं। द्वितीय और अंतिम छोटी छोटी पुस्तकाएँ हैं। प्रथम पुस्तक बड़ी होने पर भी उसमें कई विवादास्पद बातें हैं एवं विषय की भूमिका मात्र है, प्रतिपादन नहीं। संहतियों के विषय में बहुत सी सामग्री गुप्त है। कुछ तो संप्रदायगत कारणों से और कुछ राजनीतिक कारणों से। लोग उन सामग्रियों की चर्चा कर दें, तो भी न लिखने की अनुमति देते हैं और प्रकाशन की। बहुत से रीतिरिवाज, आचार विधान ऐसे हैं, जिनका अध्ययन उन संप्रदायों में कुछ समय तक रहने पर ही हो सकता है।

असम में वैष्णवधर्म और विष्णुपूजा किसी न किसी रूप में अखिल भारतीय विचारप्रवाह के समानांतर ही रहा। मध्यप्रदेश में जब महाप्रतापी गुप्तों का शासनकाल था तब कामरूप में पुष्पवर्मा के हाथों में राजदंड था। यह राजा संभवतः गुप्तों के प्रभाव में था। उसने अपने पुत्र का नाम समुद्रवर्मा एवं पुत्रवधू का नाम दत्ता देवी रखा था जो सम्राट समुद्रगुप्त और सम्राज्ञी दत्तादेवी के नाम का अनुकरण है। इसी वंश की ७वीं पीढ़ी में भूतिवर्मा हुआ जिसका शिलालेख बरगंगा में विद्यमान है। उस शिलालेख में यह अपने को 'परम भागवत' कहता है। इसकी लिपि भी गुप्तों द्वारा व्यवहृत लिपि की तरह है। इसी वंश के हर्जरवर्माके ताम्रलेख में गुप्त संवत का भी उल्लेख है। इन बातों से कल्पना की जा सकती है कि ईसा की चौथी शती से ही यहाँ गुप्त संस्कृति का प्रभाव है; और यही कारण है कि असम के कोने कोने में हजार बारह सौ से अधिक वर्षों की प्राचीन विष्णु मूर्तियाँ मिलती हैं। जैसे गोहाटीघाट की शुक्लेश्वर मूर्ति, हाजो की हयग्रीवमाधव मूर्ति एवं नवगाँव तथा गोसाई नूरि की विष्णु प्रतिमाएँ अत्यंत प्राचीन हैं।

उपर्युक्त बरगंगा शिलालेख में वासुदेव की मूर्ति के साथ अगल बगल शिव और शक्ति की प्रतिमाएँ भी उत्कीर्ण हैं। वास्तव में गुप्त संस्कृति में शैव और वैष्णव दोनों मतों को समान रूप से प्रोत्साहन दिया जाता था। गुप्त राजवंश उज्जयिनी के महाकाल का भी भक्त था। असम में भी यही बात हुई। गुप्तों के बाद मध्य

[४] इस अंश में शिलालेखादि के प्रसंग प्रायः डा० डिंबेश्वर नियोग की पुस्तक 'वैष्णवधर्मर आँतगुरी' से लिए गए हैं।

५. लेख के अंत में दे० परिशिष्ट 'क'।

देश के उल्लेखनीय शासक हर्षवर्धन हुए जो कामरूप नरेश भास्कर वर्मा के मित्र थे। ह्वेनसांग ने लिखा है यह नरेश (भास्कर वर्मा) 'देव' को पूजता था पर श्रमणों पर भी श्रद्धा रखता था। यहाँ 'देव' का अर्थ महादेव है। भास्कर वर्मा उपर्युक्त पुष्य वर्मा के ३०० वर्ष बाद हुआ था। इस अवधि में मध्यदेश में कितने ही वंशों के ध्वज गड़े और उखड़े परंतु कामरूप में एक ही वंश का शासन चलता रहा। यह वंश अपने को नरकासुर का वंशज कहता था, जो वाराहविष्णु और धरती का पुत्र था। अतः शैव होते हुए भी इस वंश के नरेश स्वभावतः विष्णु के प्रति श्रद्धालु थे। भास्करवर्मा सभी धर्मों के प्रति सहिष्णु था। उसकी एक ताम्रफलक प्रशस्ति में प्रथम दो श्लोकों में शिव की वंदना है, तीसरे में 'त्रिरत्न' (बौद्ध धर्मसंमानित) की, एवं चौथे श्लोक में वाराहविष्णु की वंदना है। 'धात्रो मुञ्चिविहिति प्योरम्बुनिधे कपट कोलरूपस्य चक्रभृत...' इत्यादि से चक्रपाणि विष्णु की वंदना की गई है।

इसके बाद शासन दूसरे वंश के हाथ में चला गया और नवीं शती के हर्जरवर्मा ('परम भट्टारक परम माहेश्वर' उपाधिधारी) एवं दशम शती के बलवर्मा की प्रशस्तियों में भी प्राधान्य शिव को है परंतु ठीक उसके नीचे विष्णु, विशेषतः वाराह रूप की वंदना श्रद्धापूर्वक की गई है।

११वीं शती में रत्नपाल और इंद्रपाल की प्रशस्तियों में यह क्रम उलट जाता है। प्रथम वंदना विष्णु की है, फिर शिव की। इनमें विष्णु के चिह्न गरुड़ पद्म, शंख, चक्र आदि भी उत्कीर्ण हैं।

१२वीं शती में यहाँ धर्मपाल विख्यात दानशील राजा हुआ। श्री डिबेश्वर निवोग के शब्दों में संभवतः यह प्रथम राजा है जो पूर्णतः वैष्णव था। उसके प्रथम फलक में अर्धनारीश्वर एवं महावाराह की समान वंदना है। परंतु द्वितीय फलक में शिव का कोई उल्लेख नहीं। यह अपने को 'वराहपुरुष गरुडध्वजस्य' का वंशधर बताता हुआ अपने भूमिदान के संबंध में वामनअवतार का संकेत कराता है। आगे चलकर उस प्रशस्ति में कहा गया है—

'सकल विप्र बहुल प्रदीपः
श्रीमान् बभूव मधुसूदन नामधेयः
यो बाल्यतः प्रभृति माधवपादपद्म
पूजा प्रपञ्च रचना सुचिरं चकार।'

इसके पूर्व शैव राजाओं की संख्या अधिक थी फिर भी अपने को नरकासुर का वंशज मानने के कारण उनमें विष्णुपूजा का भी पर्याप्त संमान था, यह निर्विवाद है।

सामान्य धार्मिक पटभूमि

राजधर्म के रूप में तो शैवधर्म की मान्यता बनी रही तथा अभिजातवर्ग एवं ब्राह्मणों का एक दल विष्णु की पूजा करता रहा। परंतु जनता के धार्मिक कर्मकांड में अनेक अनार्य पद्धतियाँ प्रचलित थीं। जादूमंत्र टोने के साथ साथ अनेक स्थानीय पूजन पद्धतियाँ थीं। फिर वज्रयान और सहजयान का अखाड़ा भी यही क्षेत्र था। अतः ऐसी स्थिति में वैष्णव धर्म को जनधर्म का समादर मिलना असंभव सा था। शैवधर्म भी पूर्णतः इस सीमा तक अनार्य पद्धति नहीं अपना सकता था। वज्रयान की नारी उपासना उग्रतारा और प्रज्ञापारमिता आदि को केंद्र बनाकर सिर्फ एक संप्रदाय में खप सकती थी, वह था शाक्तमत। यही कारण है कि उक्त सारी गुह्य साधनाएँ समष्टि रूप में शक्ति उपासना में अंतर्भुक्त हो गईं। इस उपासना का जनता पर पूरा दबदबा था। १०वीं शती से १५वीं शती तक–पूरे ५०० वर्षों तक जनमानस शाक्तधर्म की घोर उपासना में लीन होकर विकारग्रस्त हो गया। ऐसी अवस्था में नव्य वैष्णव उत्थान की धारा कामरूप में आई। इसका स्वागत होना स्वाभाविक था।

उक्त शाक्त युग में कामरूप की वैष्णव साधना किस प्रकार की थी, कौन सी पूजापद्धति प्रचलित थी, कौन सा जीवन दर्शन था, ये सभी बातें सिर्फ अटकल और कल्पना के बल पर ही निकाली जा सकती हैं। कोई क्रमबद्ध प्रमाण नहीं मिलता। कोई भी उल्लेख या प्रलेख हमारे पास नहीं, सिवाय दो शाक्त ग्रंथों के। ये शाक्त ग्रंथ हैं योगिनीतंत्र (१५वीं शती) और कालिका पुराण (१०वीं शती)। ये शाक्त ग्रंथ वैष्णव साधना की मर्यादा की रक्षा करते हुए उनका वर्णन देते हैं या अपना रंग चढ़ाकर अपनी ही लड़ाने की कोशिश करते हैं, यह कैसे जाना जाय? इन ग्रंथों की प्रामाणिकता और ईमानदारी पर कुछ भी कहना कठिन है। परंतु एक धूमाच्छादित चित्र तो मिल ही जाता है।

कालिका पुराण १०वीं शती की रचना है। उसके अनुसार देवी (महा· शक्ति) की तीन शक्तियों में द्वितीय शक्ति ही विष्णु हैं। विष्णुपूजा विधान के अतिरिक्त कुछ वासुदेव पीठों का उल्लेख है। सिद्ध पीठों या शैव पीठों की तरह व्यूहावतार परंपरा में वासुदेव पीठ भी स्थापित हुए थे। संभवतः पांचरात्र वैष्णवों की ज्ञानमार्गी पद्धति में 'पीठ' (साधना केंद्र) होते थे, और श्रद्धामार्गी पद्धति में सिर्फ मंदिर। पीठ में हरि मंदिर और साधना चक्र दोनों साथ साथ संयुक्त रहते होंगे। निम्नलिखित वासुदेव पीठों का 'कालिकापुराण' में उल्लेख है, जो कामरूप प्रदेश में विद्यमान थे।

(१) हयग्रीव विष्णु, मणिकूट पर्वत पर (वर्तमान हाजो)।

(२) मत्स्य विष्णु, मणिकूट पर्वत पर (हाजो)।

(३) माधव विष्णु, रथकूट पर्वत पर (आज ये पांडुनाथ भैरव के रूप में पूजित हैं)।

(४) महावाराह विष्णु, चित्रवाह पर्वत पर (पांडुनगर के पूर्व)।

(५) वासुदेव-विष्णु, दिक्करवासिनी की घाटी में।

इनमें आज मुख्यतः संमानित हैं वासुदेव और हयग्रीव। पूजापद्धति जो शक्तिग्रंथ में वर्णित है, आज बदल चुकी है।

हयग्रीव विष्णु का उल्लेख भागवत, महाभारत, देवी भागवत आदि में मिलता है। हयग्रीव रूप धारणकर भगवान् ने मधुकैटभ का वध किया (महाभारत-शांतिपर्व)। विष्णु ने मत्स्यरूप धारण कर हयग्रीव नामक निशाचर का वध किया जो वेदों को चुराकर पाताल ले गया था (श्रीमद्भागवत)। भगवान् ने हयग्रीव रूप धारणकर समानरूपी हयग्रीव दानव का वध किया था (श्री देवी-भागवत)। इन तीन परंपराओं में सर्वाधिक प्रामाणिक जो हो, पर हयग्रीव अवतार की मान्यता तो सर्वविदित है। इनका मंदिर आज भी मणिकूट पर्वत (अद्रियान) में है। इस स्थान को अब 'हाजो' कहते हैं। मुसलमानों ने इसे 'पावमक्का' (मक्का का चौथाई) मानकर 'हाजो' नाम दे दिया है। मंदिर के पास ही एक मस्जिद भी है। हयग्रीव की बगल में दूसरा मंदिर है जिसमें मत्स्य विष्णु का अधिवास है। इस मंदिर को मध्ययुग में 'कालापहाड़' ने ध्वस्त कर दिया था। फिर १६वीं शती में श्री रघुदेव ने जीर्णोद्धार कराया। 'कालापहाड़' जन्मतः ब्राह्मण था, परंतु इस्लाम ग्रहण कर यह बंगाल का औरंगजेब बन गया।

इस हयग्रीव की पूजा करने प्रति मास बहुत बड़ी संख्या में भूटानी बौद्ध आते हैं और इस देवता को 'महामुनि' (बुद्ध) मानकर पूजते हैं। शायद यह वज्रयानी तंत्र के किसी देवता का मंदिर था जो कालांतर में वासुदेव पीठ बन गया। डा० वाणीकांत काकती ने अपनी पुस्तक 'मदर गाडेस कामाख्या' में हयग्रीव प्रतिमा के मौलिक रूप पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

'योगिनी तंत्र' में मणिकूट पर्वत पर की, विष्णुप्रतिमा की उत्पत्ति का दूसरा ही वर्णन दिया गया है। यह हयग्रीव मूर्ति का संबंध पुरी की जगन्नाथ प्रतिमा से जोड़ने का प्रयत्न है। उत्कल नरेश इंद्रद्युम्न को स्वप्न हुआ कि एक अज्ञात वृक्ष समुद्र तट पर बहकर आएगा। राजा स्वतः कुल्हाड़ी लेकर जाय और उसे सात भाग में काटे। राजा ने वैसा ही किया। उनमें दो काष्ठखंड कामरूप लाए गए जिनसे हयग्रीव और मत्स्य माधव की प्रतिमाएँ निर्मित हुईं। हिंदू देव-वर्ग में हयग्रीव उतने प्रसिद्ध देवता नहीं कि उनके लिये मंदिर बने, परंतु बौद्ध तंत्रों में उनका अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। योगिनी तंत्र के अनुसार इस देवता

की अभ्यर्थना फल मूल के अतिरिक्त मत्स्यमांस चढ़ाकर भी हो सकती है। इससे इसके तांत्रिक देवपरंपरा से विकसित होने की कल्पना की जा सकती है।

अपने मूल रूप में यह हयग्रीव प्रतिमा चाहे जो, परंतु ७००–८०० वर्षों से इसका वैष्णवीकरण हो गया है।

कालिका पुराण में वासुदेव पीठ का जो वर्णन दिया गया है वह विष्णु पूजा का वामाचारी संस्करण ज्ञात होता है। यह भी संभव है कि भैरवी भक्तों की तरह वासुदेव साधनाचक्र भी रहे हों, जो आज लुप्तप्राय हैं। वैष्णव धर्म भी तो आगममार्ग ही है। आगममार्ग की शैवशाक्त शाखा में जब गुह्यसाधना मान्य है तो वासुदेव-शाखा में भी गुह्यसाधना का वर्तमान रहना असंभव नहीं। वैष्णवों का भी अपना अलग मुद्राचिह्न, अपना सहस्रनाम, बीजमंत्र, संपुटसाधना एवं यंत्र है। वैष्णव मत में भी सिद्धियों का उल्लेख है। भूतकाल में एक ज्ञानमार्गी साधना अवश्य प्रचलित रही होगी, जिसमें उपर्युक्त तत्वों के अतिरिक्त देवसाक्षात्कार का प्रयत्न रहा होगा। विष्णु न सही, सुदर्शनचक्र या हनुमान (भीम मारुति) की साधना और सिद्धि की चर्चा भी कभी कभी सुन पड़ती है। अतः वासुदेवपीठ न केवल कामरूप अपितु भारतवर्ष भर में रहे होंगे। कामरूप में रहस्य पथ का रंग अधिक चढ़ा हो, यह हो सकता है। हो सकता है कि व्यूहार्चना को ही रहस्यमय रूप दिया गया हो। व्यूहों की व्याख्या—परमात्मा (वासुदेव), संकर्षण (जीव), प्रद्युम्न (मन) एवं अनिरुद्ध (अहंकार), का रूप भी कुछ ऐसा है कि उस ज्ञान मार्ग की ओर अधिक आकृष्ट कर सकता है। पांचरात्र धर्म की व्यूहपूजा के प्रसंग में फर्कुहर का कथन ध्यान देने योग्य है—

'संहिताओं (पांचरात्र) का ऐतिहासिक महत्त्व दो प्रकार से है। इनके अंदर वैष्णव धर्म में शाक्त सिद्धांतों के प्रवेश का प्रथम उल्लेख है। दूसरा यह कि वैष्णव विश्वासों और कर्मकांड का प्रथम क्रमबद्ध संग्रह वे प्रस्तुत करती हैं।'' इनका आचार शास्त्र महाकाव्य (महाभारत) के 'नारायणीयोपाख्यानम्' की विचारधारा का विकसित रूप है जिसमें पर्याप्त मात्रा में शाक्ततत्त्व अंतर्भुक्त हो गए हैं। शाक्त धर्म का अभिन्न अंग यंत्र मंत्र हैं : इन संहिताओं में भी तरह तरह की तंत्र क्रियाएँ, सम्मोहन मंत्र, यंत्र आदि के विधान वर्तमान हैं। बीज मंत्रों (अष्टाक्षर और द्वादशाक्षर मंत्र) का अध्ययन भी सावधानीपूर्वक किया गया है।'[५]

डा० भांडारकर का भी कथन है कि पांचरात्र द्वारा प्रतिपादित धर्म की आत्मा १५वीं १६वीं, शती के एकांतिक वैष्णवधर्म से अत्यन्त भिन्न थी। 'वासुदेव'

५. डॉ० काकती द्वारा 'द मदर गाडेस कामाख्या' में उद्धृत।

का अर्थ कालांतर में कृष्ण होने पर भी ये वासुदेव व्रज कृष्ण नहीं ज्ञात होते। (डा० भांडारकर ने आगे चलकर बताया है कि व्रजकृष्ण आभीरों या आर्यों के किसी हँसमुख उत्साही बाये के लोकनायक या देवता थे जो उक्त वासुदेव में अंतर्भुक्त हो गए। गीता कृष्ण और गोपाल कृष्ण दोनों का मिलन हो गया। डा० पलुस्कर ने इस तथ्य का खंडन 'स्टडीज इन एपिक्स ऐंड पुरानाज' में प्रस्तुत किया है।)

फर्ग्युहर ने जिसे शाक्त प्रभाव कहा है उसे 'शाक्त' न कहकर 'रहस्य परक' कहना ठीक होगा। प्रत्येक धर्म के साथ गुह्यसाधना जुड़ी रहती है। यह धर्म की सामान्य मनोवृत्ति है। इसे शाक्तों की ही संपत्ति कैसे माना जाय? वज्रयान किससे कम है?

कालिका पुराण के अनुसार वासुदेव पूजा में ये बातें मुख्य हैं—

(१) बीज मंत्र: 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' या 'ॐ नमो नारायणाय'।

(२) वासुदेव की प्रिया 'विमला देवी' की अर्चना।

(३) पंचदेव पूजा अर्थात् राम, कृष्ण, ब्रह्मा, हर, गौरी की पूजा।

(४) वासुदेव के पार्षद ८ योगियों एवं आठ योगिनियों की पूजा। ये योगी हैं—बलभद्र, काम, अनिरुद्ध, नारायण, ब्रह्मा, विष्णु, नृसिंह और वाराह, तथा क्रमशः उनकी योगिनियाँ हैं, उत्कर्षिणी, ज्ञेया, ज्ञाना, क्रिया, योगा, प्रह्वी, ऐशानी और अनुग्रही।

(५) वषट्मंत्रों की शैली पर लिखे गए मंत्रों से शंख, चक्र, गदा, पद्म की पूजा।

(६) नैवेद्य केवल फल मूल, घृत, दही आदि निरामिष पदार्थ।

ऊपर पार्षदों की सूची में संकर्षण (बलभद्र), प्रद्युम्न (काम) एवं अनिरुद्ध तो भगवान् वासुदेव के साथ रहनेवाले व्यूहसदस्य हैं जो पांचरात्र प्रचारित हैं। शेष पाँच यहाँ कालांतर में जोड़े गए हैं। योगिनियों के नाम व्यक्तिवाचक संज्ञा न होकर भाववाचक संज्ञा ज्ञात होते हैं। दश महाविद्याओं की तरह अष्ट योगिनियों की कल्पना कामरूपी साधना की कल्पना है।

ऐसा लगता है कि समस्त पूर्वी भारत में पांचरात्र वैष्णव धर्म पर शाक्त रंग चढ़ा था। ऊपर वासुदेव की प्रिया 'श्री' (लक्ष्मी) न होकर विमला है। जगन्नाथ (पुरी) के मंदिर के बाईं ओर सटा हुआ विमला मंदिर है और दाईं ओर लक्ष्मी मंदिर। विमला मंदिर प्राचीनतर है। शक्तिपीठों की संख्या भारत में ८४ है। उसमें विमला की भी गणना है। प्रत्येक शक्तिपीठ का एक भैरव होता है जैसे अन्नपूर्णा के विश्वनाथ (काशी) या कामाख्या के उमानंद। विमला के भैरव जगन्नाथ को ही बताया गया है। विष्णु शक्तिपीठ के भैरव हों, यह विचित्र

बात है। इससे पता चलता है कि पूर्वी भारत के वासुदेव पीठों में तंत्र एवं गुह्य-साधना चलती थी। ऐसे वासुदेव पीठों में प्रधान था पुरी का जगन्नाथ मंदिर। साथ ही वासुदेव पीठों में, कम से कम पूर्वी भारत में, तंत्रसाधना की वर्तमानता स्वीकार कर लेने पर जगन्नाथ प्रतिमा के संबंध में ऐतिहासिकों की अनेक अटकलों की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती जो उन्हें पुरी मंदिर को प्राचीन बौद्ध वज्रयान पीठ घोषित करने को बाध्य करते हैं। कालिका पुराण (१०वीं शती) का संकेत है कि ऐसा वासुदेव पीठ में होता था। इसके उपकरण भले ही पंच-मकार न रहकर सात्विक रहे हों।

ऊपर अंधकार में कल्पना का व्यायाम लक्षित है पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि केवल पूर्वी भारत (असम, बंगाल और उड़ीसा) में ही गुह्य साधना प्रचलित थी। गुह्यसाधना का संबंध तो वर्गविशेष से रहता है। बहुमत तो श्रद्धा-प्रधान सीधी सादी उपासना करता है। उसकी उपासना और अर्चना तो बिना रोक-टोक चलती रहती है। कामरूप में श्रद्धाप्रधान उपासना एवं भागवत धर्म के अस्तित्व का संकेत तो हम शिलालेख आदि के द्वारा पहले ही कर चुके हैं।

हम १२वीं शती तक धर्मपाल की प्रशस्ति की चर्चा कर चुके हैं। १४वीं शती का सबसे बड़ा प्रमाण है माधवीकंदली का 'रामायण', जिसके सामने सारे शिलालेख और सारी ताम्रप्रशस्तियाँ तुच्छ हैं। यह भारत की आर्यभाषाओं की पहली 'रामायण' है जिसे माधवकंदली ने वाल्मीकि रामायण के असमिया पद्यानुवाद के रूप में प्रस्तुत किया है। कंबन, तुलसीदास और कृत्तिवास तो परवर्ती हैं। प्रथम भाषा रामायण संपूर्णतः प्रस्तुत करने का श्रेय असमिया को है।

असम में नव्य वैष्णववाद

नव्य वैष्णवोत्थान, श्रीमद्रामानुजाचार्य के नेतृत्व में प्रारंभ हुआ। इसके पूर्व वैष्णव धर्म का कोई क्रमबद्ध इतिहास पाना कठिन है। सभी देशी विदेशी पंडित इस विषय में अँधेरे में टोह करते हैं। परंतु ११वीं शती के पश्चात् विविध दिशाओं से श्रीसंप्रदाय (विशिष्टाद्वैत : श्रीमद्रामानुजाचार्य), ब्रह्म संप्रदाय (द्वैत : आनंदतीर्थ मध्व), रुद्र संप्रदाय (विष्णुस्वामी और वल्लभः शुद्धाद्वैत), सनक संप्रदाय (द्वैताद्वैत : निंबार्क), गौड़ीय वैष्णवमत (चैतन्य : अचिंत्य भेदाभेद) आदि आंदोलन देश की धार्मिक पटभूमि पर आते हैं। १५वीं शती तक वैष्णव धर्म की जय यात्रा पूरी हो जाती है। अंतिम संदेशवाहक हैं चैतन्य, वल्लभ और शंकरदेव। जो स्थान चैतन्य का बंगाल में है वह असम देश में महापुरुष शंकरदेव का है। उनका चलाया हुआ वैष्णव मत लोक भाषा में 'महापुरुषिया' परंतु शास्त्रीय भाषा में 'एकशरण धर्म' कहलाता है।

१५वीं शती तक जैसा कि ऊपर व्यक्त किया जा चुका है, असम की सामान्य जनता शाक्त उपासना से ऊब चुकी थी। माधवकंदली का 'रामायण' रामावतार की ख्याति का प्रमाण है। यदि कंदली केवल काव्य या लोकरंजन की दृष्टि से लिखते तो 'रघुवंश' को चुनते। वाल्मीकि के रामायण ने उन्हें इसलिये आकृष्ट किया कि राम के आदर्श से जनता को खींचकर लोक उन्नायन मार्ग पर वे ले जा सकते थे। अतः उस युग में जनता के मन में राम या विष्णु के लिये श्रद्धापूर्ण भाव अवश्य रहा होगा।

कामरूप या असम में नव्य वैष्णवोत्थान का नेतृत्व करते हैं महापुरुष शंकरदेव। इन्होंने एकमात्र भक्ति को ही अपना साधन मार्ग बनाया और ज्ञान की ओर ध्यान नहीं दिया। भक्ति में रहस्य साधना के लिये कोई स्थान नहीं था। ये असमप्रदेश के चैतन्य थे। इनमें चैतन्य की तरह प्रखर पांडित्य और साधना तो थी ही, चैतन्य से अधिक साहित्यिक कृतित्व था। इनकी प्रतिभा बहुमुखी थी जो दर्शन, प्रबंध काव्य, गीतकाव्य, नाटककारिता, अभिनय, चित्रकला एवं प्रचार-अभियान सबमें शक्तिशाली रूप में व्यक्त हुई। साहित्यिक स्तर पर ये असमिया के तुलसीदास हैं। इन्हीं कारणों से इन्हें 'महापुरुष' की संज्ञा मिली।

शंकरदेव (१४४६–१५६६) चैतन्य (१४६५–१५३३) एवं वल्लभाचार्य (१४०१ ···) के समसामयिक हैं। वल्लभाचार्य के जन्म के संबंध में दो मत हैं। परंतु डॉ० राधाकृष्णन् सन् १४०१ ई० ही मानते हैं। शंकरदेव भूयाँ (कायस्थ) परिवार में अलिपुखरी (नवगाँव जिला) में पैदा हुए थे। उस समय असम के मध्य भाग में अहोम नरेशों का राज्य था, पश्चिम में कामता में कोच, पूर्व में चोटिया, दक्षिणपूर्व में कछारी एवं धुर दक्षिण में भूयाँ लोगों का राज्य था। शंकरदेव प्रथम विवाह के उपरांत पत्नी का देहांत हो जाने पर तीर्थयात्रा में निकले। भारतवर्ष के प्रायः सभी मुख्य तीर्थ पुरी, गया, काशी, अयोध्या, (?), वृंदावन, बदरिकाश्रम, प्रयाग घूमे। विविध साधुओं और पंडितों से संसर्ग हुआ। फिर लौटकर असम आए एवं वैष्णव धर्म का प्रचार आरंभ किया। प्रथम वैष्णव मठ, जिसे यहाँ 'सत्र' अथवा 'सात्र' कहा जाता है, बरदोवा में स्थापित हुआ। इन्होंने वैष्णव मंत्र की दीक्षा सबको देनी प्रारंभ की। अहोम दरबार शाक्त था। दरबारी ब्राह्मणों के उत्तेजित करने पर दरबार इनसे रुष्ट हुआ। फलतः बरपेटा (कामरूप) में नया 'सत्र' बाँधकर रहने लगे। कालांतर में इन्होंने पुनर्विवाह किया। बरपेटा को केंद्र बनाकर वैष्णव आंदोलन का नेतृत्व किया। बरपेटा उस समय कूचबिहार ('कामता' राज्य) के अंतर्गत था। राजकीय प्रोत्साहन भी इन्हें पर्याप्त मिला। माधवदेव, अनंत कंदली आदि कई विख्यात प्रतिभाशाली शिष्यों की सहायता से वैष्णवधर्म की जययात्रा इन्होंने अपने अंतिम काल तक पूरी कर दी। कीर्तन, भागवत

भक्तिरत्नाकर, भक्तिप्रदीप अनेक बर गीत एवं अनेक एकांकी भावना नाटकों की रचनाकर वैष्णव साहित्य को विस्तार एवं मानदंड प्रदान किया। इनके गुरु कौन थे। कोई गुरु थे अथवा इन्हें भागवत आदि शास्त्रों के मनन द्वारा स्वयं बोध हुआ, यह प्रश्न विवादास्पद है। पर इतना निश्चित है कि उक्त युग की बड़ी बड़ी वैष्णव प्रतिभाओं के संपर्क में ये आए। मैथिल पंडित जगदीश मिश्र, जिन्हें कहते हैं स्वप्न में जगन्नाथ जी ने शंकरदेव से मिलने की आज्ञा प्रदान की थी, इनसे आकर मिले एवं एक वर्ष तक भागवत पर श्रीधर स्वामी की टीका को सुनाया। इसके बाद उक्त ब्राह्मण की मृत्यु हो गई। दूसरे पंडित विष्णुपुरी का नाम भी आता है जिन्हें इन्होंने 'विष्णुपुरी मोर संगी' अर्थात् विष्णुपुरी मेरे मित्र कहकर संबोधित किया है। अतः इनके दीक्षागुरु संभवतः कोई नहीं थे, पर सत्संग बहुतों से हुआ। इनके सिद्धांतों पर श्रीधर स्वामी की टीका भागवत-भावार्थ दीपिका' का पर्याप्त प्रभाव ज्ञात होता है। परंतु बोध अपना ही है। किसी गंभीर समस्या को सुलझाने के लिये किसी की सहायता भले ही ली गई हो। सुधारवादी एवं व्यावहारिक बुद्धि होने के कारण किसी भी स्रोत के पूर्णतः अनुगामी ये नहीं ज्ञात होते हैं। इनकी शिष्यपरंपरा में सबसे मुख्य व्यक्तित्व है माधवदेव का जो इनके द्वारा उत्तराधिकारी चुने गए थे। श्री माधवदेव भी जाति के कायस्थ ही थे। एक अन्य शिष्य श्री दामोदरदेव जाति के ब्राह्मण थे। माधवदेव ने गुरु के मरने पर कई बातों में मनमानी करनी प्रारंभ की, जो दामोदरदेव को खली। फलतः धीरे धीरे वे अलग होने लगे और अंत में जाकर एक नवीन वैष्णव मत की स्थापना की—दामोदरिया संप्रदाय। इस नवीन संप्रदाय में शास्त्रों की मर्यादा स्वीकार की गई थी। परंतु माधवदेव के सुधारवादी जोश ने उन्हें कई स्थलों पर ब्राह्मण गौरव एवं शास्त्रीय मर्यादा को उपेक्षित करने को बाध्य किया। फिर भी माधवदेव ने महापुरुषिया संप्रदाय के लिये वही किया जो सारिपुत्र और मौद्गल्यायन ने बौद्ध धर्म के लिये किया था।

इस नवीन वैष्णवता का मूलस्रोत था 'भागवत महापुराण'। पांचरात्र धर्म के वासुदेव व्यूह के स्थान पर उनके अवतार श्रीकृष्ण या श्रीराम की पूजा या विष्णु-लक्ष्मी की पूजा गुप्तकाल से तो चल ही रही थी इस नवीन उत्थान के युग में वह राष्ट्रीय धर्म बन गई। कामरूप में शंकरदेव ने श्रीकृष्ण की पूजा का ही प्रसार किया। यद्यपि राम की अभ्यर्थना में भी उन्होंने गीत लिखे एवं 'राम विजय नाट' की रचना ब्रजबोली में की। फिर भी उपास्य के रूप में श्रीकृष्ण ही मान्य हुए और नारायण के साथ उनका अभेद माना गया।

इस नवीन साधना का नाम है 'एकशरण धर्म'। 'एकशरण' अर्थात् एकमात्र श्रीकृष्ण की शरण। अनादि निरंजन परम पुरुष' श्रीकृष्ण की एक

मान्यता पर इतना अधिक जोर दिया गया है कि पुरुष की नायिका प्रकृति (राधा अथवा रुक्मिणी) को भी उपासना पद्धति में स्थान नहीं है। यह पूर्णतः पुरुषप्रधान धर्म है जिसमें केवल पुरुष श्रीकृष्ण की ही उपासना होती है। उस युग में सारा असम कुमारीपूजा और वामाचार से भ्रष्ट हो चुका था। विशेषतः कुमारी की रात्रिपूजा और एकांत सह जागरण भ्रष्टता का रूप धारण कर चुका था। इसी से शंकरदेव अपने संप्रदाय में स्त्री तत्व या 'नारी' को किसी भी रूप में स्थान देने के लिये तैयार नहीं हुए। विशेषतः राधा भाव की माधुर्य साधना तो उक्त वातावरण में और अनिष्टकर हो जाती और 'वैष्णव वामाचार' जैसी नई वस्तु बन जाती। 'भैरवी चक्रो' के नाम बदलकर 'राधा चक्र' हो जाते, पर शेष बातें सब चलतीं। शंकरदेव गृहस्थ थे। प्रथम पत्नी के मरने के बाद उन्होंने द्वितीय विवाह भी किया और गृहस्थ के रूप में मरे। अतः उनके सामने सामाजिक नैतिकता की अनिवार्यता कोई मामूली अनिवार्यता नहीं थी। इसी सामाजिक नैतिकता की रक्षा के लिये उन्होंने पुरुषप्रधान धर्म का उपदेश किया।

श्रीकृष्ण लौकिक स्तर पर ब्रज के श्रीकृष्ण बालगोपाल हैं। वे अर्जुन के सखा हैं। रुक्मिणी के हरणकर्ता श्रीकृष्ण, सत्यभामा के प्रिय श्रीकृष्ण भी शंकरदेव की लेखनी से चित्रित हुए हैं।[६]

परंतु दार्शनिक स्तर पर यही श्रीकृष्ण अवतार नहीं स्वयं परम ब्रह्म हैं। यही 'भागवत महापुराण' का भी दृष्टिकोण है। प्रायः सभी वैष्णववादों में द्वैत के साथ एक सीमा तक और एक विशेष रूप में ही सही, अद्वैत मान्य है। लेकिन यह सीमित अद्वैत है। मध्वाचार्य और आनंदतीर्थ ने ही स्पष्टतः द्वैत की घोषणा की है। डा० चंद्रधर शर्मा के शब्दों में हेगेल जिस भांति रहस्यवाद का शत्रु है, उसी तरह मध्व अद्वैत के शत्रु हैं। अन्यथा शेष सभी आचार्यों ने किसी न किसी रूप में अद्वैत को स्वीकार किया है। यह दृष्टिकोण विशुद्ध तर्कसंमत भले ही न हो परंतु व्यवहारात्मक है। सत्य तभी सत्य है जब वह यथार्थ के साथ व्यवहारात्मक भी हो। श्रीमद्रामानुज के सत्-ख्यातिवाद का यही निर्णय है। श्रीमत् शंकरदेव भी इसी तरह भेदाभेद का समर्थन करते हैं। ईश्वर कुछ अर्थों में तो अद्वैत है। उस समय उसकी अवस्था विशेष होती है। परंतु सृष्टि सत्र में बहु द्वैत के रूप में ईश्वर है जिसकी उपासना भक्त जीव रूप में करता है।

इस 'एकशरण धर्म' में षोडशोपचारों का कोई खास महत्व नहीं। यहाँ न तो हरिविग्रह होना ही आवश्यक है और न शालिग्राम, जैसा कि अन्य वैष्णव

६. 'रुक्मिणी हरण' और 'पारिजात हरण' दो नाटक।

संप्रदायों में होता है। यहाँ तो सिक्खों के ग्रंथ साहब की तरह भागवत महापुराण का ही पूजन होता है। श्रीविग्रह रहे तो ठीक है। अन्यथा उसकी कोई अनिवार्य आवश्यकता नहीं मानी जाती। प्रायः वैष्णवसत्रों में सिंहासन पर भागवत की पोथी (संस्कृत या असमिया) ही रखी रहती है। यह इस तरह देखने से तो निराकार उपासना सा लगता है परंतु यहाँ मूर्तिवाद का खंडन नहीं है। दूसरी बात यह कि कीर्तन ध्यान में यह सगुणोपासना ही है। कीर्तन में राम या कृष्ण का गुणानुवाद गाते हैं—ध्यान में वैकुंठवासी नारायण की मूर्ति का मनन करते हैं। भगवान का ध्यान 'ध्यान वर्णन' में प्रस्तावित किया गया है। उसमें वैकुंठ का वर्णन अत्यंत रोचक है। वैकुंठ श्री एवं विष्णु का नित्यधाम है।

'.. ।

वैकुंठ नामे आछे महाथान ॥
सारी सारी रंजे विमानचय।
वैदूर्य्य हीरा मरकत मय ॥
चंद्र सूर्य जेन प्रकाशे अति।
न जानि यात पासे दिन राति ॥
चारु सरोवर निर्मल जल।
सुगंध पद्म शोभे उत्पल ॥
आछे राजहंस समूहे रंजी।
लीलाए मृनाल भुंजे उभंजी ॥
पावे पारिजात मलय वाव।
चातक स्याजे सुललित राव ॥
भ्रमर गने गावे हरि गीत।
वैष्णव जने सुनि आनंदित ॥*

यहाँ ध्यान से भी बढ़कर महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है 'कीर्तन' को। कीर्तन में विशेषतः नामकीर्तन का ही विशेष महत्व है। 'एकशरण धर्म' का ही दूसरा नाम है 'नाम धर्म'। इस संप्रदाय में बीज मंत्र भी नाम मंत्र है: 'राम कृष्ण-हरिनारायण'। इन चार नामों में प्रत्येक को समान महत्व दिया गया है। शंकरदेव ने 'कीर्तन' नामक एक ग्रंथ की रचना की है जिसमें विविध पौराणिक

* रंजे = शोभित है। विमानचय = प्रसाद। सारी सारी = पंक्ति पर पंक्ति। यात पासे = बीतती हुई। रंजी = सुशोभित। भुंजे = खाते हैं। उभंजी = तोड़कर। वाव = वायु। राव = रव। स्याजे = छेड़ता है।

कथाओं का संग्रह है। यह गुण-संकीर्तन है। इस ग्रंथ का महत्व शंकरदेव के 'भागवत' से भी बढ़कर है। इसके उपरांत माधवदेव की रचना 'नामघोषा' है। नामघोषा में कुछ गुण संकीर्तन रहता है और नामकीर्तन। प्रत्येक घोषा का प्रथम और अंतिम भाग नामों की आवृत्तियाँ हैं, मध्य भाग गुणानुवाद। यह असमिया वैष्णवधर्म का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। प्रत्येक गाँव में यहाँ नामघर है जहाँ प्रति संध्या को ६ बजे रात तक कीर्तन चलता रहता है।

नाम के बाद बर गीतों का गान सर्वाधिक संमानित और लोकप्रिय है। बर गीतों की रचना पर वैष्णव पदावली शैली की स्पष्ट छाप है। ये बर गीत प्रायः विनयपूर्ण आत्मनिवेदन हैं। शंकरदेव का एक बर गीत इस प्रकार है—

'राग-केदारा'

पाँवे परि हरि करहों कातरी प्रान राखबी मोर
विषये विषधर विषे जराजर जीवन ना रहे थोर
अथिर धन जान जीवन यौवन
अथिर यहु संसार
पुत्र परिवार सबहिं असार
करबो काहे री सार
कमल दल जल चित्त चंचल
थिर न हे तिल एक
नाँहि भयो भाव माँगे हरि हरि
परम पद परतेक
कहत शंकर ए देहु श्रीपति
पार करा हृषीकेश
तुहु गति मति देहु श्रीपति
तत्वपथ उपदेश।

ऊपर की भाषा ब्रजबुली है, विशुद्ध असमिया नहीं। देवनागरी उच्चारण से पढ़ने पर प्रवाह बाधित हो जाता है, पर असमिया लिपि के मंगोल उच्चारण पर धारा अटूट रहती है। अर्थ स्पष्ट है। दूसरा उदाहरण—

'पामर मन राम चरण चित देहु।
अथिर जीवन राम माधव केरि नाम—
मरण संबल लेहु।

× × × ×

कृष्ण किंकर भण राम परम प्रभु

मरणहि संग न छोरा
अवनिसि सेवहु राम परम प्रभु
रहु छबि पंकज भोरा।*

कीर्तन के बाद 'श्रवण' है। 'भागवत' सुनने से सभी पाप कट जाते हैं, ऐसा लोगों का विश्वास है। कट्टर महापुरुषिया परिवारों में श्राद्ध न कराके भागवत का ही वाचन करा देते हैं। कीर्तन और श्रवण दोनों संबंधित तत्व हैं। कीर्तन में पुरुषों की मंडली में स्त्रियाँ नहीं बैठ पातीं। उनकी मंडली अलग अलग रहती है। शंकरदेव ने अपने जीवनकाल में किसी भी स्त्री को दीक्षित नहीं किया।

सामाजिक स्तर पर इस संप्रदाय में नामकीर्तन के बाद 'भावना-नाट्यों' का स्थान है। भाँवरिया या 'भावना' अथवा 'अंकियानाट' उन एकांकी नाटकों को कहते हैं जो प्रायः पौराणिक घटनाओं पर आधारित हैं और ग्रीक ट्रैजेडी की तरह उनमें सहगान (कोरस) भी चलता है। ब्रजबुली गद्य और असमिया ब्रजबुली मिश्रित पद्यों में लिखित ये नाटक लोकमानस पर आज भी छाए हुए हैं। शंकरदेव द्वारा लिखित कई अंकियानाट हैं परंतु साहित्यिक दृष्टि से महत्व तीन का ही है: 'रुक्मिणीहरण', 'रामविजय' और 'पारिजातहरण'। चित्रित रंग-मंच पर नृत्यवाद्य के साथ इनका अभिनय होता है। इनकी शैली उत्तर प्रदेश तथा बिहार के 'रास', बंगाल के 'यात्रा', तथा आंध्र के 'यक्षगान' से मिलती है।

ऊपर उपासना के विविध उपकरणों यथा भागवतपूजा, ध्यान, कीर्तन, अभिनय की चर्चा की गई है। गौड़ीय वैष्णव-रससिद्धांत में भक्तिरस के 'रसो वै सः' (उनसे साक्षात्कार ही रस है) का सिद्धांत माना जाता है। उस 'सः' (श्री कृष्ण) का साक्षात्कार पाँच भावों से होता है—शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। शंकरदेव एवं उनके शिष्यों द्वारा विरचित साहित्य में शृंगार रस पर्याप्त मात्रा में है। नख-शिख-वर्णन में विद्यापति भी कभी कभी मात खा जाते हैं। परंतु यहाँ की उपासना में माधुर्य भाव को कोई स्थान नहीं। गोपिकाएँ हैं अवश्य पर 'गोपी-कृष्ण' की साधना नहीं है। यहाँ पर मूलतः शांत और दास्य भावों से उपासना की जाती है। माधवदेव ने वात्सल्यरस के उच्च कोटि के पदों की रचना की है। परंतु उपासनापद्धति दास्यभाव-प्रधान है। राधा या राधापरक तन्मयता का बहिष्कार किया गया है। परंतु गौड़ीय वैष्णवधर्म राधा-परक तन्मयता पर ही आश्रित है।

* कृष्णकिंकर = शंकरदेव। भोरा = भ्रमर।

विघटन एवं अन्य शाखाएँ

श्री शंकरदेव की शिष्यपरंपरा में माधवदेव, ठाकुर आता, दामोदरदेव आदि अनेक शिष्य आते हैं। श्रीमंत शंकरदेव ने अपना उत्तराधिकारी माधवदेव को ही चुना। श्री तीर्थनाथ शर्मा का कथन है कि दामोदरदेव श्रीमंत शंकरदेव के शिष्य थे। परंतु समान प्रतिभा होने के कारण श्री माधवदेव का अनुशासन वे मानने के लिये तैयार नहीं थे। श्री माधवदेव के शास्त्र-विरोध को वे उस सीमा तक सहन करने को तैयार नहीं थे जितना माधवदेव चाहते थे। फलतः उन्होंने अपना अलग संप्रदाय स्थापित कर लिया। शंकरी भागवत को कौन कहे 'संस्कृत भागवत को' भी वे एक मात्र श्रुति मानने के लिये उपदेश नहीं देते थे। उनकी वैष्णवता अधिक उदार भी थी। शास्त्रसंमत मार्ग का वे सदैव समर्थन करते रहे। श्रीमंत दामोदरदेव जाति के ब्राह्मण थे और शास्त्रसमर्थक। अतः यह वैष्णवता ब्राह्मणों को आकृष्ट करने में समर्थ हुई।[७]

आज भी श्रीमंत दामोदरदेव की गुरुता को माननेवाले ब्राह्मण ही अधिक हैं। इस दामोदर संप्रदाय में श्रीकृष्ण की उपासना एवं श्रीमद्भागवत की प्रामाणिकता उसी तरह स्वीकृत है जैसे महापुरुषिया संप्रदाय में। भेद यही है कि वे श्रीमद्भागवत् को अंतिम प्रमाण न मानकर श्रुतिपरंपरा को अंतिम मानते हैं। यह धर्म एकमात्र पुरुषप्रधान नहीं है। फिर भी राधा-पूजन का कोई महत्व यहाँ भी नहीं। दामोदरिया सात्रों में श्रीविग्रह (मूर्ति) एवं शालिग्राम पूजे जाते हैं। मूर्तिपूजन, एवं श्राद्ध आदि संस्कारों को यहाँ आवश्यक माना गया है। संक्षेप में शंकरदेव की वैष्णवता से शास्त्रविरोधी अति सुधारवादी दृष्टि निकाल देने पर जो कुछ बच जाता है वही दामोदरीय वैष्णवता है। जब दामोदर संप्रदाय ने अस्तित्व धारण कर लिया तो दोनों संप्रदायों में पर्याप्त विरोध बढ़ा। यहाँ तक कि कुछ दामोदरदेव के शिष्य इस बात से इनकार करते हैं कि वे शंकरदेव से दीक्षित थे। उनका कथन है कि श्रीमंत शंकर एवं दामोदरदेव के पिता में मैत्री थी। दामोदर नाम भी संभवतः शंकरदेव ने ही रखा हो। वे आजीवन दामोदरदेव से स्नेह करते रहे। यह सब ठीक है पर वे दीक्षित नहीं हुए थे। इस कथन के विरोध में प्रमाण दिए जा सकते हैं और बहुमत यही मानता है कि वे शंकरदेव के शिष्य थे। यद्यपि उनके अनुयायी विरोध करते हैं। श्रीमाधवदेव का धर्मानुशासन अत्यंत कड़ा था। एक ऐसा प्रसंग आता है जब उन्होंने एक नवीन शिष्य

७. ऐसपेक्ट्स आफ आसामीज लिटरेचर, पृ० १५१।

को नदी में फेंकवा दिया क्योंकि उसने मध्यधारा में तूफान आने पर किसी अन्य देवता की (संभवतः 'कामारका' की) गोहार लगाई थी।[८]

संक्षेप में निम्नलिखित वैष्णववर्गों का, श्री माधवदेव के आदर्शों की प्रतिक्रिया में, प्राकट्य हुआ —

१. ब्रह्म संहति : इसमें श्री दामोदरदेव, गोपालदेव एवं हरिदेव के अनुयायी आते हैं। कट्टर दामोदरिया यह मानते हैं कि श्री दामोदर को वैष्णवधर्म प्रचार की आज्ञा श्री महाप्रभु चैतन्यदेव से मिली थी। ये लोग अपना संबंध मध्वाचार्य के ब्रह्म संप्रदाय एवं चैतन्य के अचिंत्य भेदाभेद से जोड़ते हैं। इसमें शक्तिपूजा (दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती) को भी मान्यता दी गई है। 'एकशरण धर्म' में पुरुष की पूजा होती है, 'शक्ति' के लिये कोई स्थान नहीं।

२. पुरुष संहति : यह शंकरदेव का 'एकशरण धर्म' माननेवालों की संहति है। इसमें भी बाद में अनेक वर्ग हो गए हैं। श्री माधवदेव का वर्ग अपने को 'निका' (विशुद्ध) पुरुष संहति मानता है। एकशरण धर्म' के सब वर्गों का संमिलित नाम है पुरुष संहति।

३. कृष्ण संहति या काला संहति : महापुरुष के शिष्यों में अनेक ऐसे थे जो प्राचीन शाक्त आदर्शों से संभवतः प्रभावित थे। श्री माधवदेव की कट्टरता से ऊबकर न केवल वे विरोधी हो गए बल्कि उन्होंने अपने को पुरुष संहति से अलग कर एक नवीन संहति का निर्माण कर लिया। इस संहति को कृष्ण संहति या काला संहति कहते हैं। कुछ लोगों का खयाल है कि दोनों अलग अलग हैं। परंतु श्री शरदचंद्र गोस्वामी ने उन्हें एक बताया है।[९]

इनमें अनेक ने गुह्य साधनापद्धति ने अपना ली है। इनमें 'राति खोवा' (रात्रि आराधक) नामक एक वर्ग है जिसके बारे में बहुत सी अच्छी बुरी बातें सुनने में आतीं हैं। 'गोपीधार वर्ग', 'तामूलन-खोवा' वर्ग आदि अन्य वर्ग हैं। इनमें विचित्र रीति रिवाज और प्रथाएँ हैं। इस संहति के माननेवाले वैष्णववर्ग 'ऊपरी आसाम' (जोरहाट, डिब्रूगढ़ जो शिवसागर एवं लखीमपुर जिले में है) आदि में है।

४. चैतन्य मत : चैतन्य मत का एक 'सात्र' नलबारी (कामरूप) में है। नित्यानंद के वंशजों में कोई १६वीं शती में यहाँ आया था, पर चैतन्यमत का प्रचार अधिक नहीं।

८ द मदर गोडस कामाख्या : बा० काकती।

९ इंट्रोड्यूसिंग आसामीज वैष्णविज्म।

श्रीमंत दामोदर के संप्रदाय में विष्णु या कृष्ण प्रधानदेव हैं, फिर भी किसी अन्य देव के मंदिर में जाकर शीश झुकाने पर इतना कड़ा प्रतिबंध नहीं क्योंकि शिव, दुर्गा आदि अन्य देव भी शास्त्रसंमत हैं। हाँ, श्रीकृष्ण या विष्णु को इष्टदेव मानना आवश्यक है।

महापुरुषिया एवं दामोदरिया के अतिरिक्त तीसरा वैष्णव मत श्रीमंत हरिदेव का चलाया हुआ है जो स्वभाव एवं सिद्धांत में दामोदरमत से मिलता जुलता है। असमिया वैष्णव धर्म में इन चार पुरुषों को महापुरुष कहा जाता है: शंकरदेव, माधवदेव, दामोदरदेव, एवं हरिदेव।

सांप्रदायिक संगठनकेंद्र

असमिया वैष्णव धर्म का केंद्र है 'सात्र'। सात्र का अर्थ 'गद्दी' या 'मठ' है। अनेक वैष्णव सत्रों की स्थापना श्रीमंत शंकरदेव ने की है। दामोदरदेव एवं हरिदेव के अनुयायियों के भी अपने अपने अलग सात्र हैं। १८वीं शती में अहोम राजा जो शाक्त था, वैष्णवों पर अत्याचार करने लगा। इस अत्याचार का कारण धार्मिक ही नहीं, आर्थिक भी था। राजा प्रजा से बेगार लेता था। छोटी जातियों के लोगों के लिये महापुरुषिया संप्रदाय का फाटक तो खुला ही था। लोग कंठी माला धारण करके 'भक्त' बन जाते थे और बेगार देने नहीं जाते थे। फलतः राजा ने वैष्णव दमन प्रारंभ किया। उसके शाक्त पुरोहित ने भी उकसाया। इसकी प्रतिक्रिया में वैष्णवों की ६४ गद्दियों ने संगठित होकर सशस्त्र विरोध किया। फल हुआ दशकों तक चलनेवाला 'मराठा' शैली में धर्मयुद्ध या जिहाद। अंत में संधि हुई परंतु प्रजा और राजा दोनों तबाह हो गये। फलतः वे चीनी और बर्मी हमलों को जो १९वीं शती के प्रारंभ में होने लगे, निरुद्ध नहीं कर सके। असम का आधा भाग कुछ काल तक बर्मी छत्रच्छाया में शासित होता रहा। इस राजनीतिक धकमधुकी के कारण यहाँ के शासकों ने अँगरेजों को १८२६ में निमन्त्रित किया। तब शांति स्थापना हुई।

प्रत्येक 'सात्र' के अंतर्गत अनेकों ग्राम होते हैं। प्रत्येक ग्राम में एक 'नाम-घर' होता है, जहाँ विशेष उत्सव एवं कीर्तनादि संपन्न होते हैं। सात्राधिकारी ही अपने दीक्षित भक्तों को धर्मानुशासन देता है। यह महंत एवं दीक्षा गुरु दोनों का कार्य करता है। वैष्णव भक्त दो प्रकार के होते हैं, एक गृहस्थ दूसरे ब्रह्मचारी। ब्रह्मचारी भक्तों को 'केवलिया' कहते हैं। ये भी दो प्रकार के होते हैं। एक तो घूम घूमकर भिक्षा ग्रहण करनेवाले और कीर्तन करनेवाले, दूसरे मठ में रहनेवाले। माधवदेव बालब्रह्मचारी थे और 'केवलिया' परंपरा के वही जनक हैं। महापुरुषिया

संप्रदाय में पहले स्त्रियों को मंत्र नहीं दिया जाता था। परंतु आज यह नियम ढीला पड़ गया है।

शूद्रों और निम्नजातियों के प्रति शंकरदेव का धर्म बड़ा ही उदार है। महापुरुष स्वतः कायस्थ थे। जब उन्होंने अनंत कंदली आदि ब्राह्मणों को मंत्र दिया तो ब्राह्मणों ने इसका विरोध यह कहकर किया कि शूद्र को अधिकार नहीं कि ब्राह्मणों को मंत्र दीक्षा दे। कालांतर में श्रीमंत शंकरदेव ने अपने पुरोहित रामगुरु को ब्राह्मणों की दीक्षा के लिये नियुक्त किया। इस संप्रदाय में जातिबंधन एवं ब्राह्मणगौरव दोनों का प्रबल निषेध है। शूद्र भी भागवत पढ़ सकता है।

इस महापुरुषिया संप्रदाय का बीज मंत्र है 'राम कृष्ण हरि नारायण'। इसी का प्रयोग प्रत्येक धार्मिक कृत्य में होता है। षोडश संस्कारों को कौन कहे, कट्टर महापुरुषिया परिवार में श्राद्ध के स्थान पर भागवतवाचन एवं वैष्णवभोजन कराया जाता है। मृतकदाह तो करते ही हैं, परंतु श्राद्ध की अन्य नियमावली का पूरी तरह पालन नहीं करते। ऐसा अति कट्टर परिवारों में ही होता है, सर्वत्र नहीं। वास्तव में यह धर्म तांत्रिक विधि-निषेध एवं गुह्यता की प्रतिक्रिया में आया है। इसीसे इसमें सब कुछ खुला-खुला सीधा-सादा है। भगवान् की शरण में जाओ। उसी का अनुग्रह माँगो। इसके अतिरिक्त और कोई रहस्य नहीं। एकांतिक भक्ति एवं नामकीर्तन ही असमिया वैष्णव धर्म की एकमात्र साधना है।

संदर्भ ग्रंथ

प्रधान धार्मिक ग्रंथ

श्री शंकरदेव—१. कीर्तन, २. भागवत (दशम स्कंध—असमिया पद्यानुवाद), ३. भक्तिप्रदीप, ४. भक्ति रत्नाकर।

श्री माधवदेव—१. नामघोषा, २. भक्तिरत्नावली—विष्णुपुरी के संस्कृत ग्रंथ भक्ति रत्नावली का स्वतंत्र अनुवाद।

श्री भट्टदेव—१. कथा गीता, २. कथा भागवत। (ये दोनों दामोदरिया संप्रदाय के ग्रंथ हैं।)

गौण ग्रंथ

१. कथा गुरुचरित—महापुरुषिया संप्रदाय के गुरुओं की जीवनी।

२. 'चरितपूँथी' (चरित पोथी)—गुरुओं एवं अन्य वैष्णव संतों के जीवन संबंधी अध्ययन का स्रोत।

सहायक ग्रंथ

मनोरंजन शास्त्री : असमर वैष्णव धर्मर रूपरेखा (असमिया)
डिंबेश्वर नियोग : वैष्णव धर्म मौंतिगुरी (असमिया)
महेश्वर नियोग : शंकरदेव ,,
डा० वाणीकांत काकती : शंकरदेव (नटेसन, मद्रास) (अँगरेजी)
,, ,, : ऐस्पेक्ट आव् आसामीज लिटरेचर ,,
,, ,, : मदर गोडेस कामाख्या ,,
हरमोहनदास : शंकरदेव ,,
डा० बिरंचि बरुआ : शंकरदेव ,,
शरदगोस्वामी : इंट्रोड्यूसिंग असमीजवैष्णविज्म ।

*

ढोला मारू रा दूहा में सामाजिक जीवन

कृष्णबिहारी सहल

'ढोला मारू रा दूहा' में चित्रित तत्कालीन सामाजिक जीवन के विवेचन की सुविधा के लिये निम्नलिखित ६ भागों में विभक्त किया जा रहा है—(१) सामाजिक व्यवस्था, (२) विवाहसंस्कार, (३) मनोविनोद, (४) त्यौहार, (५) लोकाचार : लोकव्यवहार और (६) विश्वास और मान्यताएँ।

सामाजिक व्यवस्था

ढोला मारू रा दूहा में वर्ण व्यवस्थासंबंधी उल्लेख—प्रस्तुत काव्य में वर्णव्यवस्था के संबंध में अधिक वर्णन नहीं मिलता। 'ढो॰ मा॰ रा॰ दूहा' में ढोला और मरवाणी के विरहवर्णन को ही प्रधानता मिली है। इसी कारण ढोला के लोकरक्षक (राज्यरक्षक) रूप का, जिसका समाज से घनिष्ठ संबंध रहता है, चित्रण नहीं हुआ। चूँकि कवि का लक्ष्य ढोला को लोकरक्षक रूप में दिखाना नहीं था, इसलिये सामाजिक नियमों, सामाजिक व्यवस्था आदि पर ध्यान नहीं दिया गया है।

आलोच्य कृति में चारों वर्णों की चर्चा हुई है, उनका विस्तृत वर्णन नहीं। ब्राह्मण क्षत्रिय के अतिरिक्त कुछ अन्य उपजातियों की भी चर्चा हुई है यथा चारण आदि।

ब्राह्मण को पुरोहित के नाम से चित्रित किया गया है। क्षत्रिय वंश के राजा नल और पूगल के राजा का वर्णन है। वैश्य के रूप में सौदागर आदि का यथास्थान चित्रण हुआ है। शूद्र रूप में आधुनिक परिगणित जातियों के अंतर्गत आनेवाले ढाढी, डूम और याचकों आदि का वर्णन है। इनमें से प्रत्येक वर्ग अपने कार्य का निर्वाह दक्षता एवं कुशलतापूर्वक करता है। क्षत्रिय का कार्य प्रजा का रक्षण होता है परंतु जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, काव्य की भावप्रधानता के कारण क्षत्रिय के रक्षकरूप को इस काव्य में महत्व नहीं दिया गया है। पुरोहित (ब्राह्मण) के कार्यों का भी इसमें वर्णन नहीं है। समाज में उसका शीर्षस्थान होने से उसे श्रद्धास्पद समझा गया है। इसी श्रद्धा की ओर 'ढोलामारू रा दूहा' के निम्नलिखित दोहे में संकेत किया गया है—

राजा प्रोहित राखिजइ, जिणकी उत्तिम जाति।
मोकलि घर रा मंगता, विरद जगावइ राति ॥१०३॥

इसी प्रसंग में उक्त काव्य वर्णित जातियों का विवेचन अनुप्रासंगिक न होगा।

जातियाँ

चारण—मारवाड़ में अन्य रजवाड़ों से ज्यादा चारण मिलते हैं। पहले इनकी जमीन पर किसी प्रकार का लगान, कर आदि नहीं लगता था। चारण कहते हैं कि महादेव जी का नाँदिया पार्वती जी के सिंघ (सिंह) के डर से चरने को नहीं जा सकता था। इसलिये महादेव जी ने एक पुरुष पैदा किया और उसे नाँदिया चराने का हुक्म दिया। चारण ने पार्वती की स्तुति की। देवी ने खुश होकर कहा कि जा नाँदिये को चरा ला, मेरा सिंह कुछ नहीं कहेगा और तूने मेरी स्तुति की जिसके प्रताप से तेरी संतान बिना लिखे पढ़े ही कविता किया करेगी। इसी वरदान से चारण अपने को कवि कहते हैं और माता जी की पूजा भी करते हैं। इसी प्रकार की कथा मालकम साहब ने मालवे की कौमों की पुस्तक में लिखी है।[1]

विलसन ने लिखा है कि 'इनका नाम मवेशियों के पालने और चराने से चारण हुआ है।'

किंतु कविराज मुरारिदान जी ने इन सबको मान्यता न देकर प्राचीन पुस्तकों के प्रमाणों से अन्य ढंग से इनकी उत्पत्ति सिद्ध की है। कविराज ने चारणों को देवयोनि में सिद्ध करने की युक्ति दी है। विद्वानों की श्रेणी देवताओं की श्रेणी में आती है। कहा भी गया है 'विद्वान् सो हि देवता।' देवताओं के अष्ट प्रकार हुए जिनके संबंध में विदुर के प्रश्न पर मैत्रेय मुनि ने कहा था—

'देवसर्गश्चाष्ट विधौ विबुधाः पितरौ सुराः।
गन्धर्वाप्सरसः सिद्धा यक्षरक्षांसि चारणाः ॥२७॥
भूतप्रेत पिशाचाश्च विद्याध्राः किन्नरादयः।
दशैते विदुराख्याताः सर्गस्ते विश्वसृक्कृताः ॥२८॥

श्रीमद्भागवत, ३। १०। २७, २८

इससे चारणों का देवत्व सिद्ध होता है। 'चारण' शब्द की व्युत्पत्ति के लिये भी कहा गया है—

'चारयन्ति कीर्तिम् इति चारणाः।'

१. रिपोर्ट मरदुम शुमारी, राज मारवाड़, भा० ३।

चारण कीर्ति का संचार करनेवाले अथवा फैलानेवाले कहे गए हैं। चारण लोग आदि से ही राजा महाराजाओं की कीर्ति का बखान करते आए हैं। कविता करना तथा प्रसिद्ध बातों की 'ख्याति' (तवारीख) रखना, ये सब काम ये ही लोग करते रहे हैं। चारणों का आदि स्थान हिमालय कहा जाता है। वाल्मीकि रामायण के उत्तरकांड, सर्ग ५, श्लोक ४ में कहा गया है—

> अथ गत्वा तृतीयं तु वायोः पन्थानमुत्तमम्।
> नित्यं यत्र स्थिताः सिद्धाश्चारणाश्चमनस्विनः॥

हिमालय से प्रजा धरती पर आई, चारण भी धरती पर आए। पृथ्वी पर आए हुए चारणों का वाल्मीकि मुनि और वेदव्यास भगवान ने बड़ी महिमा के साथ कथन किया है —

> ऋषयश्च महात्मानः सिद्धविद्याधरोरगाः।
> चारणाश्चसुतान् वीरान्ससृसुर्वनचारिणः॥ वा० रा०, १।१७।१

वाल्मीकि रामायण में कई जगह चारणों का उल्लेख आता है। इतना ही नहीं, समय समय पर उनके द्वारा किए हुए कार्यों का भी उल्लेख हुआ है। यथा, वाल्मीकि रामायण, सुंदरकांड, सर्ग ५५, श्लोक २६।

रामायण महाभारत के अलावा अति प्राचीन काव्य और नाटकों में भी चारणों का वर्णन मिलता है।

चारणों का वही कीर्ति फैलाना, विद्या पढ़ना, कविता करना इत्यादि कार्य रहा। राजपूत इन्हें काफी संमान तथा दान देते थे। जोधपुर में तो महाराज जब गद्दी पर बैठते थे तो उसी समय लायक चारण को लाख पसाव दिया करते थे। इसमें लक्ष रुपयों का दान देते थे जिसमें पाँच हजार रुपये, हाथी, घोड़े, जेवर, सिरोपाव और बाकी कमी पूरी करने के लिये गाँव देते थे। उस वक्त श्री महाराजा साहब सिंहासन से उठकर तमाम दरबारी लोगों के सहित राजद्वार तक उस चारण को पहुँचाने को जाते थे।

'ढोला मारू रा दूहा' में बीजू नामक चारण का उल्लेख हुआ है जिसने ढोला को मारवणी की प्रशंसा में निम्नलिखित दोहा कहा था—

> नमणी, खमणी, बहुगुणी, सुकोमली जु सुकच्छ।
> गोरी गंगा नीर ज्यूं, मन गरवी, तन अच्छ॥४५२॥

ढाढी

ढाढी ढोलियों की तरह की एक जाति है। ढोली तो ढोल बजाते हैं और ढाढी सारंग या रवाब बजाते हैं। ढाढियों का कहना है कि वे रामचंद्र जी के

जन्म के समय भी मौजूद थे। इन्हें उस समय बधाई भी मिलती थी, जिसका यह गीत भी है —

> दशरथ के घर राम जनमिया हँस ढाढन मुख बोली।
> अठारा किरोड ले चौक मेलिया, काम करन को छोरी ॥

ढाढी हिंदू और मुसलमान दोनों कौमों में पाए जाते हैं। ढाढी गाते बजाते हैं। इनके घर की औरतें घाघरा पहनती हैं, जजमानों के घरों में जाकर गाती बजाती हैं लेकिन नाचती नहीं। ढाढ़ी नाचते हैं। आईने-अकबरी में लिखा है कि युद्ध में वीरों की तारीफ ढाढी लोग किया करते थे। ये लोग फौज के आगे आगे गाते चलते थे, मगर हिंदुस्तान में अब ढाढी यह काम नहीं करते। इनकी जगह भाटों ने लेली है।

'ढोला मारू रा दूहा' में ढाढियों का उल्लेख कई जगह पाया जाता है। ढोला के पास मारवणी का संदेश लेकर वे नरवर जाते हैं, वहाँ महल के नीचे रात भर करुण राग में मारवणी की पीड़ा को वाणी देते हैं यथा—

> सिंधु परइ सउ जोअणे नीची खिंवइ निहल्ल।
> उर भेदंती सज्जणां, ऊँचेडंती सल्ल ॥१६१॥
> सिंधु परइ सउ जोयणां खिवियाँ बीजुलियाँह।
> ढोलउ नरवर सेरियाँ, धण पूगल गलियाँह ॥१८६॥

जोगी

जोग का प्रारंभ ठेठ महादेव जी से हुआ है और जोग की विद्या भी उनसे ही निकली है, जिसकी साधना से जोगियों को बड़ी बड़ी करामातें हासिल हो जाती थीं, जैसे आकाश में उड़ना, पानी पर तैरना, कायापलट कर देना। मुसलमानों की पुस्तकों में भी जोगियों की इन विशेषताओं का उल्लेख मिलता है। पहले वही जोगी कहलाता था जो जोग साधन करता था, किंतु अब तो जोगियों का एक पंथ हो गया है जो अपनी परंपरा का प्रारंभ गुरु गोरखनाथ जी से मानते हैं और इस पंथ को उन्हीं का चलाया हुआ बताते हैं। गोरखनाथ मछंदरनाथ के चेले थे और एक गुरु भाई उनके जलंधरनाथ जी थे। जोगी इनकी कथा भी कहा करते हैं।[२]

जोगी जोधपुर-जैसलमेर में काफी हैं। जोगियों में घरबारी ज्यादा हैं, और नहंग कम। नहंग जोगी जोग साधते हैं, प्राणायाम चढ़ाते हैं, चेले मूँडते हैं,

२. रिपोर्ट मरदुम शुमारी राज मारवाड़, भा० ३।

जंगलों में रहते हैं, गृहस्थ धर्म का सेवन करते हैं। ये लोग महादेव की पूजा करते हैं, भस्म का तिलक लगाते हैं। दारू माँस खाते पीते हैं। भीख माँगते हैं। मारवाड़ में इनकी कई किस्में हैं, यथा—
(१) नाथ जो कनफड़े भी कहलाते हैं, (२) मछनिये जोगी, (३) काल-बेलिये, (४) औघड़ जो कान नहीं फड़ाते या एक ही कान फड़ाते हैं, (५) अघोरी जो बाजारों में पैसे माँगते हैं, (६) रावल।

साँप द्वारा काटे जाने पर जोगी ने ही मारवणी को जिंदा किया था।

जोगिया जोगी परचव्यउ वयणां अधिक अपार।
पांणी मंत्रे पाइयउ हुई सचेती नार ॥६२१॥

पुरोहित (व्यवसाय)

पुरोहित ब्राह्मणों की संख्या मारवाड़ में अन्य ब्राह्मणों की अपेक्षा अधिक है। राजाओं तथा जागीरदारों की यजमानी के कारण इन लोगों को जमीनें दान में मिलती रही हैं। कन्याओं के लिये वर ढूँढना, विवाह आदि की रीतियाँ संपन्न कराना, राज्याभिषेक करना पुरोहितों का काम रहा है। ये लोग संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ हैं, इसी कारण भाड़े के विद्वान लाकर कार्य संपन्न करवाते हैं। यज्ञोपवीत आदि का पहनना भी इनके यहाँ जरूरी नहीं है। ब्राह्मण समुदाय में इनका स्थान निम्न है। ये वस्तुतः ब्राह्मणों की विभिन्न शाखाओं से निकले हुए लोग हैं जिनमें राजपूत खाँपें भी मिलती हैं। विवाह में अग्नि के चार फेरे होते हैं। ये वैष्णव संप्रदाय के अनुयायी हैं। राजपूतों की सगाई की तरह इनके यहाँ भी सगाइयाँ होती हैं। पुरोहितों में भी अलग अलग खाँपें हैं। राजगुरु, जागरवाल पुरोहित, पाँच लौड पुरोहित, सीहा पुरोहित, पालीवाल पुरोहित, सेवड पुरोहित, सोढा पुरोहित, दूधा पुरोहित आदि आदि।[१]

'ढोला मारू रा दूहा' में पूगल का राजा पिंगल पुरोहित को बुलाकर उसे ढोला के पास भेजता है। रानी के कहने पर बाद में ढाढी को भेजा गया था।

विवाहसंस्कार

स्मृतियों में आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख है। प्रस्तुत काव्य में इन ८ में से प्राजापत्य विवाह का रूप मिलता है। ढोला और मरवण का विवाह वस्तुतः एक आकस्मिक घटना है। इतनी छोटी अवस्था में विवाह कर देना इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि इस समय भी बाल विवाह प्रथा का निषेध नहीं था।

१. विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य राजस्थानी जातियाँ (बजरंगलाल लोहिया) पृ० ६६।

स्मृतिसाहित्य में बालविवाह की प्रथा के विकास के विभिन्न स्तर परिलक्षित होते हैं। मनुस्मृति से परवर्तीकाल की ओर दृष्टिपात करते हैं तो बालविवाह का विधान मिलता है। महाभारत में तो लिखा है कि जन्म होते ही कन्या का विवाह सदृश वर के साथ कर देना चाहिए। उचित काल में कन्या का विवाह कर देने से पिता को लाभ की प्राप्ति होती है।[४]

> जात मात्रा तु दात्या कन्यका सदृशे वरे।
> काले दत्तासु कन्यासु पिता धर्मेण युज्यते॥

अनुशासन पर्व, ३३

ढोला और मरवण का विवाह क्रमशः तीन एवं डेढ़ वर्ष की अवस्था में ही हो गया था। विवाह तो बाल्य अवस्था में हो गया, किंतु ढोला और मरवण को अपने विवाह आदि की कोई स्मृति नहीं रही और यही कारण है कि ढोला का नया विवाह भी मालव देश की मालवणी से कर दिया गया। यह विवाह बहु-विवाह की प्रथा का स्मरण दिलाता है जिसका क्षत्रियों में आज भी किसी अंश में प्रचलन है।

सोहागरात

विवाह संस्कार के बाद अलंकृत वधू और पति का प्रथम मिलन ही सोहागरात कहलाता है। बचपन में विवाह हो जाने के कारण मारवणी का यह प्रथम मिलन ही सुहागरात कहा जा सकता है। मारवणी को सखियाँ महल में भेज देती हैं, जहाँ ढोला से प्रेमालाप होता है। रचनाकार ने इस मिलन का बहुत ही विशद चित्रण किया है।

वधू का प्रस्थान

ढोला अपनी ससुराल पंद्रह दिनों तक रहा। विवाह के बाद वधू ससुराल जाती है। किंतु गौना होने के बाद ही वह ससुराल में ज्यादा दिन ठहर सकती है। गौने की प्रथा राजस्थान में आज भी प्रचलित है। मारवणी का भी गौना किया जाता है। ऐसे अवसर पर पिता अपने सामर्थ्य के अनुसार दहेज देता है। इस तरह सभी रीति रिवाज पूरी करने के बाद ढोला मारवण को लेकर नरवर की ओर प्रस्थान करता है।

४. हिंदू संस्कार, राजबली पांडेय, ।

दहेज

दहेज की प्रथा बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। आज भी इसका प्रचलन है। दहेज में कन्या को आभूषण आदि दिए जाते थे, तथा अन्य आवश्यक वस्तुएँ दी जाती थीं, जो कन्या की अपनी होती थीं। मारवणी के पिता ने भी एक राजा होने के नाते खूब दहेज दिया था। यथा—

> सोवंन जडित सिंगार बहु, मारवणी मुकलाइ।
> गय हैंवर, दासी बहुत, दीन्हीं पिंगलराइ ॥५६५॥

गौने में राजा पिंगल ने बहुत से स्वर्णजटित शृंगार, अच्छे अच्छे हाथी घोड़े और अनेक दासियाँ दीं। साथ में मारवणी के लिये सहेली अथवा एक खास दासी भी दी। राजपूतों में आज भी किसी न किसी रूप में इसका प्रचलन दृष्टिगोचर होता है।

मनोविनोद

'ढोला मारू रा दूहा' में मनोरंजन के साधनों में नृत्य, गायन, खेल आदि प्रमुख रहे हैं। मारवणी अपने विरह में कहती है कि यदि ढोला बसंत ऋतु में नहीं आया तो मैं चर्चरी नृत्य के मिस खेलती हुई होली की ज्वाला में कूद पडूँगी। यहाँ दो बातें स्पष्ट रूप से हमारे सामने आती हैं—(१) उस समय चर्चरी नृत्य का प्रचलन था, (२) उस युग में होली के दिनों में समाज में नृत्य आदि की प्रथा थी।

> फागुण मासि बसंत रुत आयउ जइ न सुणेसि।
> चाचरिकइ मिस खेलती, होली झँपावेसि ॥१४५॥

फाग खेलने की परंपरा भारत में काफी प्राचीन है। फागुन मास में बड़े चाव से लोग फाग खेलते हैं। ढोला भी मालवणी को पूगल जाने के लिये कहता है और वहाँ जाकर फाग खेलना पसंद करता है।

> फागण मास सुहामणउ, फाग रमइ नव वेस।
> मो मन खरउ उमाहियउ, देखण पूगल देस ॥१०२॥

मनोविनोद का एक साधन पहेली कहना और पूछना भी था जैसा निम्नांकित दोहे से प्रकट है—

> मारवणी इम वीनवइ, घनि आजुणी राति।
> गाहा गूढ़ा गीत गुण कहि का नवली बाति ॥५९७॥

पर्वोत्सव एवं त्योहार

ढोला मारू रा दूहा में 'होली', 'तीज' आदि पर्वोत्सवों का उल्लेख हुआ है। काव्यकार ने इन उत्सवों का केवल उल्लेख मात्र ही किया है जिससे उस समय के प्रचलित पर्वोत्सवों का अनुमान लगाया जा सकता है।

तीज—राजस्थान में तीज के उत्सव का बड़ा महत्व है। यह नारी समाज का एक ऐसा पर्व है जिसे वे बहुत ही उत्साह के साथ मनाती है। 'ढोला मारू रा दूहा' में 'सावन की तीज' एवं 'कजली तीज' का उल्लेख हुआ है। सावन के शुक्ल पक्ष की तीज को सावन की तीज कहा जाता है। इस अवसर पर लड़कियाँ और स्त्रियाँ गाती बजाती और झूला झूलती हैं। मारवणी ढोला को सावन की पहली तीज पर आने को कहती है साथ ही यह भी कह देती है कि इस तीज पर नहीं आए तो मैं प्राण दे दूँगी[५]। इस त्योहार पर हर स्त्री चाहती है कि उसका पति उसके पास रहे। ऐसा होने पर स्त्रियाँ इस उत्सव को और भी अधिक उल्लास के साथ मनाती हैं। मारवणी फिर कहती है कि 'हे ढोला! यदि तू कजरी की तीज पर नहीं आया तो बिजली को चमकती देखकर मारवणी चौंक कर मर जायगी।[६] भाद्रपद कृष्णपक्ष की तृतीया को 'कजली' अथवा 'काजलियारी' तीज कहते हैं। राजस्थान में वर्षा ऋतु और ऋतुओं से अधिक आनंदप्रद होती है। जनता का वर्षा-संबंधी आनंदोल्लास इस उत्सव के रूप में घनीभूत हो जाता है।

त्यौहार—राजस्थानी जनजीवन में त्यौहारों का अपना विशिष्ट स्थान है। वैसे तो हिंदू जाति में वर्ष भर में न जाने आए दिन कितने त्यौहार मनाये जाते हैं फिर भी होली, दीपावली आदि कुछ एक ऐसे ही त्यौहार हैं जो समाज में बड़े लोकप्रिय हैं।

होली—'ढोला मारू रा दूहा' में वसंत ऋतु के फाल्गुन मास की पूर्णिमा को मनाए जाने वाले 'होली' के त्यौहार का उल्लेख हुआ है। यही एक ऐसा त्यौहार है जिसे व्यक्ति पूर्ण स्वच्छंद होकर मनाता है। मारवणी भी चाहती है कि ऐसे अवसर पर ढोला उसके संमुख रहे ताकि वह भी इस त्यौहार को आनंद के साथ मना सके। इसी हेतु वह कहती है कि 'हे ढोला, यदि तुम वसंत ऋतु के फाल्गुन मास में नहीं आए तो मैं (मारवणी) चर्चरी नृत्य के बहाने खेलती हुई होली की ज्वाला में फाँद पड़ूँगी।[७]

५. जउ तूँ साहिब, नावियउ सावण पहिली तीज,
　बीजळ तणइ, भळूकड़इ मूँध मरेसी खीज। ढो० मा० दू०, १४६।

६. जइ तूँ ढोला नाविवउ, काजळियारी तीज।
　चमक मरेसी मारवी, देख खिवंता बीज। ढो० मा० दू० १५०

७. ढो० मा० दू०, १४५

लोकाचार और लोकव्यवहार

ढो० मारू० में लोकाचार और लोकव्यवहार का वर्णन बहुत ही कम हुआ है और जो हुआ है, उसे दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—

१. संमानप्रदर्शन।
२. अतिथिसत्कार।

संमान प्रदर्शन एवं अभिवादन स्वरूप या आशीर्वाद स्वरूप क्रमशः 'जुहार' एवं 'शुभराज' दो शब्दों का प्रयोग प्रस्तुत काव्य में हुआ है।

जुहार

संमान प्रदर्शन के लिये 'जुहार' किया जाता है। 'जुहार' का अर्थ प्रणाम से है। मारवणी और ढोला आपस में जुहार करते हैं अर्थात् एक दूसरे को प्रणाम या अभिवादन करते हैं।

डा० विद्याभूषण 'विभु' ने अभिवादन की रीतियों के वर्गीकरण में अर्थ-मूलक या साभिप्राय अभिवादन भी रखा है जिसके लिये आपने लिखा है कि इसके मूल में अभिवादक का अपना कोई प्रयोजन या स्वार्थ संनिहित रहता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसका प्रारंभ किसी संकटकाल में हुआ होगा, क्योंकि इसमें अभिवाद्य से सहायतार्थ याचना या अभ्यर्थना की जाती है।[८] इस प्रकार डा० विभु 'जुहार' को अर्थमूलक अभिवादन के अंतर्गत मानते हैं, जो सोद्देश्य होता है। सामान्यतया ग्रामीण वर्ग में ही जुहार शब्द अधिक प्रचलित है यद्यपि कहीं कहीं नागरिकों के प्रति भी इस शब्द के प्रयोग के उदाहरण मिलते हैं। अष्टछाप काव्य में नंदजी द्वारा देवकी को जुहार करने की बात मिलती है। रामकथा के प्रसंग में सीता की खोज करते हुए हनुमान जब अशोकवाटिका में बंदिनी सीता का दर्शन करके अपरिचित होने के कारण चिंतित हो जाते हैं, तब आकाशवाणी द्वारा उनको आदेश मिलता है कि वैदेही यही है, इन्हें 'जुहार' करो। यथा, सूर आकाशवाणी भई तबै, यही वैदेहि है करु जुहारा।[९] कंस को मारने के पश्चात् उग्रसेन को राजगद्दी पर बैठाकर श्री कृष्ण उनको जुहार करते हैं।[१०]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'जुहार' करने का प्रचलन ग्रामीण क्षेत्र के साथ साथ सभ्य समाज में भी था। बारहठ कृष्णसिंह जी कृत कृष्णनाममाला डिंगलकोश में 'जुहार' के लिये लिखा है कि बराबरवाले व्यक्ति आपस में जुहार

८. हिंदी अनुशीलन : अभिवादन आशीर्वाद, अभिधान, पृ० ११, डा० विभु।
९. अष्टछाप काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन, डा० मायारानी टंडन, पृ० १५४।
१०. उग्रसेन बैठारि सिंहासन आप जुहार कियौ, परमानंददास, ५१२।

करते हैं। इस मत के आधार पर यही कहा जायगा कि यह अभिवादन के लिये प्रयुक्त होनेवाला एक ऐसा शब्द है जो ग्रामीण एवं सभ्य समाज दोनों में प्रचलित था। उपर्युक्त तथ्यों से यह कहीं भी नहीं लगता कि 'जुहार' किसी उद्देश्य विशेष या किसी स्वार्थ भावना से किया जाता रहा है। डा० विभु के उक्त कथन का ऐसी स्थिति में समर्थन नहीं किया जा सकता। यदि 'जुहार' को साभिप्राय अभिवादन माना जाय तो फिर 'नमस्कार-प्रणाम' को भी अर्थमूलक अभिवादन कहना चाहिए। परंतु वस्तुतः ऐसी बात नहीं है, क्योंकि अभिवादन करना तो श्रद्धासूचक है और श्रद्धा के ऐसे माध्यम को चाहे वह 'जुहार' हो या 'नमस्कार', अर्थमूलक या उद्देश्यपरक कहना उचित नहीं जान पड़ता। 'जुहार' तो सविनय अभिवादनसूचक एक ऐसा शब्द है जो बहुत पहले से समाज में प्रचलित था।

शुभराज

अभिवादन के समान ही आशीर्वाद भी लोकाचार का एक मुख्य चिह्न समझा जाता है। भरत के अनुसार तो—

> वात्सल्याद्यत्र मान्येन कनिष्ठस्याभिधीयते।
> इष्टावधारके वाक्यमाशीः सा परिकीर्तिता॥

कह सकते हैं। बड़े के द्वारा छोटे के प्रति मंगलकामना करना ही आशीर्वाद कहा जायगा। बड़े के द्वारा अपेक्षाकृत छोटे को चिरंजीव हो, कल्याण हो आदि के कहने को आशीर्वाद की संज्ञा दी जा सकती है, क्योंकि उस कथन में मंगलकारी या मांगलिक भावना निहित होती है। यहाँ एक प्रश्न उठता है कि क्या बड़ी आयुवाला व्यक्ति ही आशीर्वाद देने का अधिकारी है। यदि हाँ, तो फिर चारण, भाट, पंडित आदि के द्वारा राजा महाराजाओं के प्रति जो मंगल कामनाएँ की जाती थीं, उन्हें क्या कहा जाय? यह तो था नहीं कि चारण लोग आयु में राजा से हमेशा बड़े ही रहे हों। वृद्ध राजा को भी चारण अपनी मंगल कामनाएँ अर्पित करता था और यह भी आशीर्वाद का ही रूप था। उक्त तथ्य को लेकर यही कहा जा सकता है कि चारण आदि द्वारा जो मंगलकामना की जाती थी, वह आशीर्वाद का ही रूप था जिसमें आयु और पद का कोई प्रश्न नहीं था, वरन् यह एक जनपरंपरा सी बन गई थी, और यही कारण था कि मध्यकाल के राजाओं को चारण आदि आशीर्वाद दिया करते थे क्योंकि उन्हें इतना संमान मिला हुआ था कि वे राजा को भी, भले ही वह अवस्था में बड़ा हो, आशीर्वाद देने के अधिकारी समझे जाते थे।

'ढोला मारू रा दूहा' में बीसू चारण राजा नल के पुत्र ढोला से जब मिलता है, तब 'शुभराज' करता है[११], जिसका शाब्दिक अर्थ है 'आपका कल्याण हो'। यहाँ बीसू द्वारा मिलने पर शुभराज कहना आशीर्वाद माना जाय या अभिवादन, यह एक विचारणीय प्रश्न है। सर्वप्रथम तो यह देखना है कि जब एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से मिलता है, तब अभिवादन ही करता है। बीसू का सीधा यह कहना कि आपका कल्याण हो, क्या अभिवादन है? यहाँ पर यह भी विचारणीय है कि क्या अभिवादन में भी शुभकामनाएँ होती हैं? नमस्कार, प्रणाम, 'जयराम जी' या 'जय राधागोविंद' अभिवादनसूचक शब्द हैं, जिनके शाब्दिक अर्थ से शुभकामनाओंवाला अर्थ नहीं निकलता, तो फिर क्या यह माना जाय कि अभिवादन में शुभकामनाएँ नहीं होतीं? परंतु ऐसा वर्तमान युग के अभिवादनसूचक शब्दों को देखकर नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आज तो शुभ दिन, (गुड डे) शुभ प्रभात (गुड मार्निंग), मंगलमय रात्रि या सुखदा शर्वरी (गुड नाइट), आदि शब्द अभिवादन के लिये प्रयुक्त होते हैं। इनमें अभिवादक और अभिवाद्य दोनों एक दूसरे के कुशलक्षेम के लिये कहते हैं, कुशलता के इच्छुक होते हैं। उपर्युक्त कथन से लगता है कि अभिवादन में भी मंगल की कामना होती है, इसलिये बीसू चारण का 'शुभराज' कहना भी अभिवादन ही है। पर यहाँ यह अवश्य कहना चाहूँगा कि शुभराज कोरा अभिवादन ही नहीं है, क्योंकि उसमें आशीर्वाद की भावना अधिक है, ऐसी स्थिति में इसे आशीर्वादात्मक अभिवादन ही कहना अधिक उपयुक्त होगा।

अतिथिसत्कार

भारतीय सभ्यता और संस्कृति ने 'अतिथि देवो भव' का हमेशा आदेश किया है तथा वैसा व्यवहार करना सिखाया है। भारतीय लोग अतिथि को देवता के समान मानते आए हैं। अतिथि के स्वागत के लिये घर का व्यक्ति भले ही कम खा ले या किसी तरह की तकलीफ उठा ले, परंतु अतिथिसत्कार में कमी नहीं आने दी जाती। अतिथि को किसी चीज का अभाव न खटके, इसका भरसक प्रयत्न किया जाता रहा है। यह ठीक है कि आज अतिथि का वह पूजनीय स्थान नहीं रहा जो पहले था, किंतु 'ढोला मारू रा दूहा' में अतिथिसत्कार का बड़ा सुंदर नमूना मिलता है। पूगल के राजा जब नरवर के राजा नल के यहाँ अकाल-ग्रस्त होने के कारण जाते हैं, तब राजा नल उनका भव्य स्वागत करते हैं।[१२]

११. साम्हउ बीसू आवियउ, जाइ कियउ सुभराज। ढो० मा० दू० ४४७।
१२. दूहा ३

इसी प्रकार जब सौदागर पिंगल राजा से मिलता है तो उसका बहुत आदर करके उसे राजदरबार में बुलाया जाता है।[१३]

विश्वास और मान्यताएँ

लौकिक काव्य होने के कारण 'ढोला मारू रा दूहा' में लोकप्रचलित विश्वास एवं मान्यताओं का संनिवेश विशेष रूप से हुआ है। ढोला मारू को राजस्थानी का जातीय काव्य कहा गया है।[१४] राजस्थानी भावनाएँ इसकी आत्मा में ओतप्रोत हैं। इसलिये भी इस काव्य में लोकविश्वास एवं मान्यताओं का होना आवश्यक सा हो जाता है। प्रस्तुत काव्य में पौराणिक विश्वासों को कोई स्थान नहीं मिला है, जब कि भारतीय संस्कृति में पौराणिक विश्वासों का बड़ा महत्व रहा है। लोक विश्वासों का जो चित्रण इस काव्य में हुआ है उसे अध्ययन की सुविधा के लिये (क) उपचार संबंधी विश्वास, (ख) शकुन, (ग) अपशकुन और (घ) अन्य विश्वास के अंतर्गत विभाजित कर सकते हैं। हाँ, यहाँ यह अवश्य कहना होगा कि लोकमान्यताओं के अंतर्गत आनेवाली मान्यताओं का (यथा भाग्यवाद, ज्योतिष के प्रति मान्यता, कर्मवाद, पुनर्जन्मवाद आदि) चित्रण प्रस्तुत काव्य में नहीं हुआ है। इसलिये प्रस्तुत काव्य के उक्त विश्वासों की ओर संकेत करना हो अभीष्ट है।

उपचारसंबंधी विश्वास

टोना टोटका, तिनका तोड़ना, जंत्र मंत्र करना आदि कुछ एक ऐसे उपचार हैं, जो समाज में काफी लोकप्रिय हैं। 'ढोला मारू रा दूहा' में जंत्रमंत्र का उल्लेख हुआ है। साँप के काटने पर उसके विष को मंत्र पढ़कर उतारा जाता है, ऐसा लौकिक विश्वास है जो आज भी प्रचलित है। मारवणी जब पीवने साँप द्वारा काटे जाने के कारण अचेत हो गई थी, तब जोगी ने जल अभिमंत्रित करके उसे पिलाया था, जिससे वह सचेत हुई।[१५] साँप के काट लेने पर गारुड़ी द्वारा मंत्र पढ़ने की बात आज भी लोक में प्रचलित है और समाज का उस पर विश्वास है। सूरदास ने भी गारुड़ी का उल्लेख किया है।[१६]

१३. दूहा ८४।
१४. ढो० मा० दू०—प्रस्तावना, पृ० ७।
१५. पाणी मंत्रे पाइयउ, हुई सचेती नार। ढो० मा० दू०, ६२१।
१६. नंद सुवन गारुडी बुलावहु।
देखौ धौं यह बात हमारी, एक ही मंत्र जिवावै।—सूरसागर, ७४६।

शकुन

'ढोला मारू रा दूहा' में वर्णित शकुनसूचक कार्यों और व्यापारों को स्थूल रूप से तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—

१. शकुनसूचक मनस्थिति।
२. शकुनसूचक शारीरिक व्यापार।
३. जीव जंतुओं की शकुनसूचक क्रियाएँ।

शकुनसूचक मनःस्थिति

कभी कभी अनायास और अकारण ही व्यक्ति का चित्त बड़ा प्रफुल्लित एवं आनंदमय हो जाता है, वह अत्यधिक प्रसन्नता का अनुभव करता है और उसका हृदय गद्गद हो जाता है। यह अनायास, अकारण प्रसन्नता ही भावी शुभ कार्य की सूचक होती है जिसे शकुन के अंतर्गत माना जाता है। मारवणी को भी अचानक हर्ष या उल्लास का अनुभव होता है। ढोला मारवणी से मिलने के लिये अपने घर से चल दिया है और पूगल के मार्ग में आ पहुँचा है। मारवणी को इसका पता नहीं है लेकिन उसे बड़ा उल्लास होता है, क्यों होता है, वह स्वयं नहीं जानती। यहाँ मारवणी का यह सहज उल्लास भविष्य के शुभ कार्य यानी ढोला के आगमन की सूचना देता है।[१७]

शकुन सूचक शारीरिक व्यापार

पुरुषों के दाहिने अंगों और स्त्रियों के वाम अंगों का फड़कना शुभ माना जाता है। इन अंगों में भुजा और नयन मुख्य रूप से मंगलसूचक कहे जा सकते हैं। तुलसीदास ने भी इस तरह के शकुनों को 'मानस' में चित्रित किया है।[१८] 'ढोला मारू रा दूहा' में भी इस प्रकार के शकुनसूचक शारीरिक व्यापारों का उल्लेख हुआ है। स्त्रियों के बाएँ नयन और भुजा ही नहीं, वरन् उनके उर और अधर फड़कने को भी शकुन ही माना जाता है। उक्त काव्य में बाएँ नयन और भुजा के साथ साथ उर और अधर फड़कने का भी उल्लेख हुआ है। मारवणी कहती है कि 'आज आँखें, नाभि, भुजाएँ और अधर फड़क रहे हैं। हे सखि,

१७. आज उमाहउ मो घणउ, ना जाणूं किण केण।—ढो॰ मा॰ दू॰, ५१८।
१८. (क) भरत नयन भुज दच्छिन फरकत बारहिं बार।
—मानस उत्तरकांड, दो॰ ४।
(ख) फरकत मंगल अंग सिय बाम बिलोचन बाहु।
—रामाज्ञा॰ ५-२-५।

अवश्य ही प्रियतम ने (मेरे) घर की ओर घोड़े किए हैं।'[१९] इसी प्रकार मारवणी फिर कहती है कि 'अधर फड़कते हैं, शरीर फड़कता है और शरीर फड़क कर नयन फड़कते हैं, नाभिमंडल (इत्यादि) सभी अंग फड़कते हैं, निश्चय ही साँझ को नाथ मिलेंगे।' आगे कथा में भी ये वाक्य चरितार्थ होते हैं, तभी तो समाज इन शकुनों को बड़ी विश्वसनीय दृष्टि से देखता है। इस तरह के शकुनसूचक शारीरिक व्यापारों का उल्लेख तुलसी, सूर, केशव, बिहारी आदि सभी कवियों ने किया है। मारवणी की तरह सूरदास की सीता (अशोकवाटिका में बंदिनी) नैन और उर के फड़कने को सगुन मानती है।[२०]

जीवजंतुओं की शकुन सूचक क्रियाएँ

इस वर्ग में पशु पक्षी तथा अन्य कीट पतंगों की शकुनसूचक क्रियाएँ ली जा सकती हैं। रामचरितमानस में शकुनसूचक पशुओं में गाय, मृग और लोवा या लोमड़ी को बतलाया गया है।[२१] ढोलामारू रा दूहा में शकुनसूचक पशुओं तथा पक्षियों का कहीं भी उल्लेख नहीं हुआ है।

अपशकुन

ऐसे कार्य और व्यापार जो भावी अनिष्ट, विपत्ति अथवा कष्ट आदि की सूचना देते हैं, अपशकुन माने जाते हैं। 'ढोला मारू रा दूहा' में अपशकुनों की चर्चा नहीं के बराबर हुई है।

•

१९. आज फरूकइ आखिया, नाभि, भुजा, अहराँह।
सही अ थोडा सज्जणाँ, साम्हाँ किया घराँह॥ —ढो० मा० दू०, ५१६।

२०. (क) इतनौ कहत नैन उर फरके, सगुन जनायौ अंग।—सूर०, ९-८२।
(ख) कुच भुज नैन अधर फरकत हैं, बिनहिं बात अंचल धज डोली।
—सूर ४२७६।

२१. लोवा फिरि फिरि दरसु देखावा। सुरभी सनमुख सिसुहिं पिआवा।
मृगमाला फिरि दाहिनि आई। मंगल गन जनु दीन्हि देखाई॥
—मानस० बाल० ३०६।

वर्णरत्नाकर की श्रेणी के परवर्ती वर्णक ग्रंथ

भुवनेश्वरप्रसाद गुरुमैता

•

१. आभाणकरत्नाकर

रत्नाकर नामधारी कई ग्रंथ मध्यकालीन भाषा-साहित्य में मिलते हैं। 'आभाणक रत्नाकर'[१] नामक ग्रंथ का प्रथम खंड श्री भँवरलाल नाहटा को प्राप्त हुआ है। इसमें बहुत सी कहावतों के साथ वर्णरत्नाकर जैसे कुछ वर्णनों का भी प्रारंभ में संग्रह किया गया है। इससे मालूम होता है कि वर्णक संग्रहों का व्यापक प्रचार था और ऐसे संग्रहों का नाम 'रत्नाकर' भी दूसरे प्रदेशों में प्रचलित रहा है। खोज करने पर और भी कई मूल्यवान ग्रंथ मिल सकते हैं।

२. कथारत्नाकर

नरचंद्र सूरि कृत कथारत्नाकर वि० सं० १३१६ का है। इसके कुल १६४ पत्र उपलब्ध हैं। प्रस्तुत ग्रंथ १५ तरंगों में विभाजित है। यह एक वर्णनात्मक कथापुस्तिका है। अंतिम पत्र चित्रित है। अभी तक यह ग्रंथ अप्रकाशित है। इसके कुछ परिचयात्मक अंश पत्तनस्थ प्राच्य जैन भांडागारीय ग्रंथसूची के पृष्ठ १४ पर प्रकाशित है।

३. पृथ्वीचंद्रचरित्र अपर नाम वाग्विलास

श्री माणिक्यचंद्र सूरि विरचित पृथ्वीचंद्रचरित (वि० सं० १४७८) एक विशिष्ट वर्णक ग्रंथ है जो वर्णरत्नाकर के साथ तुलनीय है। श्री मुनि जिनविजयजी ने 'प्राचीन गुजराती गद्य संदर्भ' के अंतर्गत इसका प्रकाशन कराया है।[3] इसके

---

१. मरुभारती, वर्ष ८।

२. 'ए डिस्क्रिप्टिव कैटलाग आव् मैनुस्क्रिप्ट्स इन द जैन भंडार ऐट पट्टन', बड़ौदा ओरियंटल इंस्टीच्यूट, खंड १, पृ० १४।

३. प्राचीन गुजराती गद्य संदर्भ, संपादक मुनि जिनविजय, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद, सं० १९८६।

अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि मध्यकालीन वर्णक साहित्य का प्रसार कितनी दूर तक विस्तृत था। संपूर्ण भारतीय समाज में एक जैसा ही रहन सहन था। यह ग्रंथ पाँच उल्लासों में विभाजित है और वर्णरत्नाकर की वर्णनपद्धति में जिस प्रकार 'पुनु कइसन देषु' की पुनरुक्ति है इसी प्रकार इस ग्रंथ में भी 'पणु किस्युं कहीयइ' (अधिक क्या कहिए) का पाठ मिलता रहता है। सर्वप्रथम पुण्य की महिमा गाई गई है। तदुपरांत पृथ्वीचंद्र के राज्य की भूमिका बताते हुए द्वीपों और समुद्रों के अतिरिक्त प्रमाण बताए गए हैं।[४] तदुपरांत सात क्षेत्र, चौदह महानदी, छ वर्षधर पर्वत तथा ६८ देशों के नाम गिनाए गए हैं।[५] साथ ही भोट, चीण आदि परदेशों के नाम भी समाविष्ट हैं। इसके बाद प्रासाद, प्रतोली के अतिरिक्त ८४ हाटों की सूची दी गई है।[६] रत्नों की सूची बहुत विस्तृत मिलती है जिसमें १४ मणि उपमणियों के नाम बताए गए हैं और अश्व, गज, पुरुष और स्त्री को भी रत्न कहा गया है।[७] पाटण नगर का बड़ा ही वैभवपूर्ण चित्र है। मंत्री के गुण, राजसभा, अयोध्या का नगरस्थापन, राजा के गुण तथा ७२ कलाओं के नाम भी मिलते हैं।[८]

द्वितीय उल्लास का प्रारंभ राजकुमारी के साथ होता है। इसमें अनेक ब्राह्मण, १८ पुराण, १८ स्मृति, वाद्ययंत्र, वस्त्र, हाथी, घोड़े, सेना, रथ, वन, सेना का प्रयाण, अस्त्र-शस्त्र आदि वर्णित हैं। अंत में पृथ्वीचंद्र राजा समरकेतु पर विजय प्राप्त कर लेता है।

तृतीय उल्लास में राजकुमारी के विवाह का वर्णन है। इस प्रसंग में आभरणों की सूची दी गई है।[९]

चतुर्थ उल्लास ८८ ग्रहों के मध्य धूमकेतु के वर्णन से प्रारंभ होता है। इसी उल्लास में धर्मनाथ तीर्थंकर की माता के चौदह महा स्वप्नों का बड़ा विशद वर्णन है।[१०]

४. वही, पृ० १२७।
५. वही, पृ० १२८।
६. वही, पृ० १२६।
७. वही।
८. वही, पृ० १३३।
९. वही, पृ० १४३–४४।
१०. वही, पृ० १४६–५२।

पंचम उल्लास के आरंभ में तीर्थंकरों के जन्माभिषेक के अवसर पर उपस्थित रहनेवाली दिशाकुमारियों का उल्लेख है। तदुपरांत १७ प्रकार की पूजन-विधियाँ, ४६ बाजे, तीर्थंकर के अवतार के प्रमुख राजवंश, वणिक जातियों तथा कुमार्या और अच्छे मित्रों के लक्षण आदि बतलाए गए हैं।

४. वैजनाथ कलानिधि

इसका विवरण अब से २५ वर्ष पूर्व पत्तनस्थ प्राच्य जैन भांडागारीय ग्रंथ सूची के पृ० ७४ से ७६ पर प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ की ११५ पत्रों की एक प्रति संघवी पाड़े के जैन भंडार में है। अभी तक यह ग्रंथ अप्रकाशित है। इसका थोड़ा अंश यहाँ उद्‌धृत किया जा रहा है जिससे वर्णरत्नाकर की वर्णनपद्धति से समता सिद्ध होती है

प० ४६, प २—अथातां नगर वर्णन। आटालिया। कपरीया। मालीया। गजद्वारें। राजद्वारें। खडकीद्वारें। बाहलवाडे। चौकिया। मनोरम विलासमुरें। प्रसिद्ध सिद्धांचे निवेश। बौद्धांचे विहारा। जिनांची जिनालयां। कनकशाला। टंकशाला। होमशाला। अध्ययनशाला। गीतनृत्य - वाद्यशाला। जेवणशाला। चित्रशाला। धर्मशाला। मद्यशाला। हस्तिशाला। ब्रह्मशाला। अनेक मठ मठिया। कब आडें नडें चौकीया धवल द्वारें वसुआरें मालवयें कोष्ठनिबद्धं कोठारें कोटिबा। कडी। पोडों डी। (क) लहंस। दुआजे। आवासश्रियाँ। सिंपद्द्वारी। उधूतपताकासहस्र (स्र) प्रकटिते। उत्तंगगिरि शिखरसंकाशें देवनायतनें। चतुष्पयें चतुष्पयें विचित्र चित्रित सभामंडप। सुवर्णकलशालंकृत प्रासादसहस्रु (सु)। जैसें गगनसरोवर कनककमल मुकुंली अलंकृत। मयूर पारावत चकोर राजहंस। तैयां चित्रां प्रासादावरि इतश्चेतश्च संचरतेति आकाश सरोवरीं जलविहंगमां ब्राह्मणभवनीं श्रवीं सामाचे उद्‌घोष साये प्रातरग्निहोत्र हवनें मंगल प्रकाशक होम धूम। सुरभि परिमलालंकृत श्रीमंतभवनी बहकते अगरधूप। क्रय-विक्रयव्यवहारी ससंभ्रम हट्टशाला प्रदेश। ठाई ठाई सतीयां दंडायुधां वे सरांबाचे वा गवडी। तांडवलास्यमेदै। भावकां नटांसि पात्र परिपाव वाची अभ्यास स्थानें। गोवबते आंगवरांवी विश्रशाला। पटप्रासादसाधकां देसी मार्गसाधनें। तत वितत घनसुखिर वाद्य वादकां सरावांची एकांतस्थानें परम प्रबोधानंदनिर्भरां मुनीं वैराग्यान मठ राउलि वासिह बारी डाविये ऊखिबीये भुजेनी तीं भूमींची भूविलासिणिची धवलद्वारें।

प. पट अथातां सभावर्णन। तेथ गादिया। मूडे मसोरै वा (चा) वक्ते। लोहासनं। वज्रासनं। वेतासनं। रुक्मासनं। स्वस्तिकासनं। सैअवटा बाधने। या पाटवा तते। तेथ प्राच्योदीच्य दाक्षिणात्य अंग चं (वं) ग विंग

कलिंग सौराष्ट्र महाराष्ट्र कर्णाटि लाट भट मत्स्य पांचाल किरात हूण नेपाल मालवी देस बर्बरा सिंदे सुलुकी मोरी यादव राठोड कदंब कलिपुरा चौहाण प्रार्थतीय नाइल पुलिंद भील प्रांतवासिरा कोंकण चोल नरपति डेल्हार गौड गाकरो कनौजिए उत्कल मागध ढहरलिए पातवणिचे बावर रानिए कटक सेंबव वालुका साधार तजर हंमीर तुरुक हो राजे बैठले। तेथ खेयांचे थां सरला वे झणात्कार झणित। नेतवटांचे सरंग परिहारित। तेथ धर्मपात्रें अर्थपात्रें विश्रामपात्रें कार्यपात्रें विनोदपात्रें प्रसादपात्रें कीर्तिपात्रें स्मार्त राजगुरु धर्माधिकारी आकरणी संधिविग्रही साहाली आंतोरबाह्यां कुमाराध्यक्ष वैद्य कोइली मलवटे मलासुदाइत। आंगां बांवाचे पडियार दीवटे ढोलीकार सावोरिगते पारधी। महवंत मोहुरी साहिए। पडवल बारिआहत।

प. १०२-१०३ — आरवयक हुहु ऊजुच्छंदसी उत्तर आरणीं च्छंदसी उ (त्त) र आरणी च्छंदसीपद उत्तरापद आरणीयापद स्तोभु इत्यादि पर ग्रंथ। प्रथम ४ ग्रंथ। गाने सणि राधि बृहद्रथंतर। महावैराज। महादिवाकोर्त्य। ज्येष्ठसामें तीनि। देवधूतं तीनि ३। पुरुषव्रतें १। आग्नेयव्रतें २१ इत्यादि सामें आठ सहस्र चौदाशा। सामी आगाले ॥ छ ॥ सैरंध्री कृष्णागरु प्रधोपु वाणी। मयूरबंटका संनिमें कुकुलितें चर्कें विडसिकारें भ्रमरसंनिमें। रासं आंकुर लांबानुणसिरां वाणों ह्निमालिका वं (चं) चु पाणी मांगु। अभिनोवाणों। येरवणीया चिरिमिटा फेडी सोलो यर्चा ची मवाई करी। वर्षा वय देश जाति मेदें शृंगारुचे तैलें विपादी प्रबोधु वाणों फणी दोरी दाभण। सुहाकोवी। अलता लेखणी। गाहुआ। इयें उपरि करि करणें। वा प्रथम ऋतु। गर्भाधान। पुंसवन। सीमंतोन्नयन। जातकर्म। नामकरण। निष्क्रमण अन्नप्राशन। कर्णवेधु। चूडाकरण। व्रतचर्या गोदानिका। अध्ययन। समावर्तन। केशांत। दारापरिग्रहण ॥ छ ॥ ईश्वरीचां ललाटी त्रिपुरदहनावसरी वामीचंडेस्यर खेदातो उपनले। तेयां च्यार खडिया म्हणि पथि स्यारिवर्णः। ब्राह्मण, दंडा येतो चंडुनप्रावार्य। चत्री वाणी नक्ष वेफे विलासु चता तिवत सडु विडिंगु। स्याग चेटकु। अर्धारमुखां चंडवदनमुखी। वाणवामर्मुखी। विलास सत्पुरुषीं विडंगवदनादास। वचडग्व (चंडेश्वर)। जटामुकुटशोभितु। आहुठ सादासी आश्रम। ४ गोत्रें। अठेतातीस वेको राशि वहमु। चंडपूजा। शिवदीक्षा। ३६ तत्व ८ कला।

५ वर्णकसमुच्चय

इधर हाल ही में महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय, बड़ोदा के गुजराती विभाग के अध्यक्ष डा० भोगीलाल ज० सांडेसरा ने प्राचीन गुर्जर ग्रंथमाला के अंतर्गत 'वर्णकसमुच्चय' का संपादन किया है। मध्यकालीन वर्णकों के संग्रह की

दृष्टि से यह अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण प्रकाशन है।[११] प्रासयुक्त गद्य के ये वर्णक भव्य नमूने हैं। कविता के लिये उपयुक्त रूप, मात्रा और लय के बंधन से विहीन होते हुए भी इनमें काव्यरचना के हेतु समस्त रूढ़ियों का समावेश हुआ है। प्रस्तुत ग्रंथ में भोजन, वस्त्र, अलंकार, रत्न, विद्या, कला, मंत्र, शास्त्र, वाद्ययंत्र, देश, प्रदेश, नगररचना, स्थापत्य, राजवंश, दुर्ग, युद्ध, शस्त्र, कर, सामाजिक जीवन, अश्वजाति और नौका वर्णन आदि विषयों का वर्णन हुआ है। रोगों के नाम आयुर्वेदिक पद्धति के अनुसार और व्रत तथा लब्धि (सिद्धि) जैन संप्रदाय के अनुसार चित्रित हैं।

वर्णकसमुच्चय में कुल ग्यारह वर्णक हैं। इनमें केवल दो का ही रचनाकाल हस्तलिखित प्रति में मिलता है। शेष का अंदाज से ही लिपि देखकर अनुमान कर लिया गया है।

१—विविध वर्णक[१२] का रचनाकाल १६वीं शताब्दि वि० संभावित (१५वीं सदी ई०)।

२—सभाशृंगार[१३] का रचनाकाल सं० १६७५ वि० (१६१८ ई०) प्रति में लिखित है।

३—वर्ण्यवस्तु वर्णन पद्धति[१४] का रचनाकाल १७वीं शता० वि० संभा० (१६वीं सदी ई० का उत्तरार्द्ध)।

४—प्रकीर्ण वर्णक[१५] का रचनाकाल १६वीं सदी वि० संभा० (१५-१६वीं सदी ई०)।

५—जिमणवार-परिधान विधि[१६] का रचनाकाल सं० १६७५ वि० (१६१८ई०) प्रति के अनुसार।

११. वर्णकसमुच्चय, संपा० डा० भोगीलाल ज० सांडेसरा, म० स० विश्वविद्यालय, बड़ौदा, १९५६ ई०।

१२. वही, पृ० ३—१०४।

१३. वही, पृ० १०५—१५६।

१४. वही, पृ० १५७—१६६।

१५. वही, पृ० १३७—७०।

१६. वही, पृ० १७१—८२।

६–भोजनविच्छित्ति[१७] का रचनाकाल १७वीं शता० वि० उत्तरार्द्ध संभा० (१७वीं शती ई० पूर्वार्द्ध)।

७–वीरभोजन वर्णक[१८] का रचनाकाल १७वीं शता० वि० का अंत संभा० (१७वीं शती ई० पूर्वा०)।

८–भोजन भक्ति[१९] का रचनाकाल १८वीं शता० वि० संभा० (१८वीं शती ई० पूर्वा०)।

९–अहोश्यालक बोलि वर्णक[२०] का रचनाकाल १७वीं शता० वि० पूर्वा० संभा० (१६वीं शती ई० उत्त०)।

१०–गुजराती सुलतानों नु प्रशस्तिकाव्य अने अमदावादनुं वर्णन[२१] का रचनाकाल १६वीं शता० वि० उत्त० संभा० (१६वी शती पूर्वा०)।

११–हस्तिवर्णन[२२] का रचनाकल १७वीं शता० वि० (सोलहवीं-सत्रहवीं शती ई०)।

इनके अतिरिक्त परिशिष्ट में दो और भी संमिलित हैं। लेकिन ये वर्णक-शैली में नहीं हैं। फिर भी वर्णकों के अध्ययन की दृष्टि से इनका उपयोग तो महत्वपूर्ण है ही। ये दो हैं—

१–प्रयागदास कृत कपड़ा कुतूहल[२३], रचनाकाल वि० सं० १८०३ (१७४६ ई०)।

२–क्रयाणक-वस्त्र-आभरण नामावलि[२४], रचनाकाल १८वीं शता० वि० संभा० (१७–१८ वीं ई०)।

इस प्रकार कुल तेरहों की रचना का समय पंद्रहवीं से १८वीं शता० ई० तक है। इनमें भी अधिकांश सोलहवीं से सत्रहवीं शती ईस्वी की रचनाएँ हैं।

१७. वही, पृ० १८३–८८।
१८. वही, पृ० १८९–९२।
१९. वही, पृ० १९३–९४।
२०. वही, पृ० १९५–२०१।
२१. वही, पृ० २०२–५।
२२. वही, पृ० २०६।
२३. वही, पृ० २०७–२१२।
२४. वही, पृ० २१३–२१८।

ऐसा लगता है कि इनमें संकलित सांस्कृतिक सामग्री पंद्रहवीं से अठारहवीं शती तक की है। परंतु समाज और साहित्य की परंपरागत रूढ़ियाँ प्राचीन काल से ही प्रभावित होती आ रही हैं। इसलिये इन वर्णकों की कुछ सामग्रियाँ अवश्य ही पंद्रहवीं शती के पूर्व की हैं।

गुजरात के चालुक्य वंश के शासनकाल (१०वीं शता० ई०–१३वीं शता०) का इन वर्णकों में कुछ संस्मरण मिलना संभव है। दिल्ली के खिलजी सुल्तानों की लूट पाट से उत्पन्न संकट १४वीं शती ई० के अंत तक समाप्त हो गया था। स्थानीय सुल्तान अहमदशाह और खास कर महम्मद बेगड़ा के राज्यकाल (१५वीं शती १६वीं शती ई० के पूर्वार्द्ध) में पुनः एक बार गुजरात में शांत परिस्थिति का निर्माण हुआ। सोलहवीं शती ई० के उत्तरार्द्ध में पुनः डँवाडोल परिस्थिति आई अवश्य, किंतु १५८२ ई० के बाद मुगलों के हाथ में शासन आने पर पुनः शांति रही। गुजरात का मुख्य नगर सूरत उस समय पश्चिम भारत का सबसे बड़ा बंदरगाह बना। इस प्रकार सुल्तान और मुगलों के काल में गुजरात आर्थिक दृष्टि से समुन्नत रहा। पंद्रहवीं सदी के अंत (१४९८ ई०) में पुर्तगाली भारत में व्यापार करने आए। इसके बाद डच, फ्रांसीसी और अंगरेज आदि युरोपीय जातियाँ भी व्यापार करने के लिये भारत में आने लगी। पूर्व के वैभव से चकाचौंध होकर इन व्यापारियों, सैनिकों और राजपुरुषों ने अपनी डायरी में सत्रहवीं शती ई० के गुजरात के ऐश्वर्य का विस्तार सहित उल्लेख किया है। अकबरकालीन अबुलफजल ने भी ऐसी सांस्कृतिक सामग्रियों की चर्चा की है। पश्चिम के लेखकों में अशुद्ध उच्चारण के कारण भाषा की भूल पर्याप्त पाई जाती है।[२५]

उदाहरण स्वरूप अपराईं नामक यात्री ने खंभात से गोआ जाते समय वस्त्रों का उल्लेख करते हुए 'गौडांनी लौड़' के लिए 'कोत्वेस' लिखा है और खंभात को 'कंबाय' रूप में तोड़ा है।[२६] अतएव उस युग की सामग्री के अध्ययन के लिये पुराने साहित्य का आधार आवश्यक है। पंद्रहवीं और सोलहवीं शती से ही गुजराती साहित्य में अरबी, फारसी और युरोपीय शब्दों के पाए जाने का कारण है सुल्तान, मुगल और विदेशियों द्वारा यहाँ के उद्योग धंधों को प्रोत्साहन। इस प्रकार चार-पाँच सौ साल की गुजराती जनता की रहन-सहन का भरापूरा चित्र उपस्थित करने में ये वर्णक समर्थ हैं।

२५. वर्णक समुच्चय, भा० २, पृ० ६।
२६. वही, पृ० ७।

प्रस्तुत 'वर्णक समुच्चय' में सर्वप्रथम विविधवर्णक नामक एक सौ पृष्ठों का ग्रंथ संकलित है। इसमें ये विषय महत्वपूर्ण हैं—भोजनपदार्थ वर्णन[२७], राजलोक पाँरलोक[२८], राजवर्णन[२९], पुरुषवर्णन[३०], मुनिश्रावक[३१], नगरवर्णन,[३२] देश सूची[३३], नगर प्रासाद वर्णन[३४], छत्तीस राजकुली[३५], वस्त्रसूची[३६], कलशांत प्रासाद वर्णन,[३७] बहत्तर कला[३८], जिन मंदिर,[३९] राजलोक पाँरलोक चक्रवालि[४०], आचार्य[४१] चंद्रोदय[४२], वस्तुपाल तेजपाल विरुद[४३], मुनि,[४४] गृह,[४५], आस्थान मंडप वर्णन,[४६] छत्तीस दंडायुध[४७], अश्वसूची,[४८] समुद्र में प्रवहमान भंग का वर्णन[४९] आदि।

इसके बाद 'सभा शृंगार' नामक दूसरा महत्वपूर्ण संग्रह है। यह पचास पृष्ठों का है। इसके प्रारंभ में वीतरागवाणी, केवलज्ञान, गुरु, सत्पुरुष तथा

२७. वही, भा० १, पृ० ३–७।
२८. वही, पृ० ३३-१४।
२९. वही, पृ० १३-१४।
३०. वही, पृ० १५।
३१. वही, पृ० २०।
३२. वही, पृ० २१।
३३. वही, पृ० २८-२६।
३४. वही, पृ० ३२।
३५. वही, भा० १, पृ० ३३।
३६. वही, पृ० ३४-३५। इसमें १०० से अधिक वस्त्रों के नाम हैं।
३७. वही, पृ० ३६-४०।
३८. वही, पृ० ४८।
३९. वही, पृ० ४८।
४०. वही, पृ० ४६।
४१. वही, पृ० ४६-५०।
४२. वही, पृ० ५७।
४३. वही, पृ० ५५।
४४. वही, पृ० ७०।
४५. वही, पृ० ७१।
४६. वही, पृ० ७२।
४७. वही, पृ० ७४।
४८. वही, पृ० ६२।
४९. वही, पृ० ६७।

सुभाषित संबंधी प्रसंग है।[५०] इसके बाद बहुत से उल्लेखनीय विषय हैं—वर्षाकाल (पृ० ११२), संभई (११२-१३), समुद्र, वृक्ष, सिंह, अश्व, हस्ती (पृ० ११३) रथ, पत्तन, गढ़ अमात्य, राजा (पृ० ११४), राजसभा के पदाधिकारी (पृ०११५), नारी का नखशिख रूप (पृ० ११७), भोजन (११७-१८) तथा युद्ध का सजीव चित्रण (११८-१९)। देशवर्णन में अधिकांश भारत के भीतर के प्रदेशों के नाम हैं—

गोड द्रविड मालव नेपाल बंगल अंग तिलंग हमुंब भूर्जरराष्ट्र महाराष्ट्र, कुरु काश्मीर राट लाट धार कर्णाट मेदपाट लाढ महाभोट विदेह उच्च मूलथाण कुंकण चीण महाचीण खुरसाण, सवालख सिंधु ढोरसमुद्र मरहठ नमिवाड ककूज अंकव अंबज कुरंक कोरंटक कौशिक पापीपंथ पांडक मरुस्थल।[५१]

इसके पश्चात् श्राद्ध (पृ० १२०) का श्रद्धापूर्वक वर्णन करते हुए अंधकार का चित्रण है-- जैसे, अंधकार काली लली रात्रि रात्रि प्रतिइ मकि जिसी भ्रमरनी पाँव जिसी अंजनाचलनउँ शिखर, जिसी कुमाणसमुख, जिसी स्त्री तणी वेणीं, जिसी यमुना प्रवाह, जिसी कज्जलनो अंबार, जिसी गुलीना रंग, जिसी कर्त्तासनउ जल।[५२] तदुपरांत सत्पुरुष, शत्रु और बुरे का वर्णन पृ० १२१ में मिल जाता है। इसके बाद तीन पृष्ठों में नीति संबंधी उपदेशामृत हैं। जैसे—क्षमा समान धर्म नहीं, साचा सभी पावडी नहीं, उंकार समउ मंत्र नही, लवण समउ रस नहीं, सोना समउ रूप नहीं, शील समउ शृंगार नहीं।[५३]

इसके पश्चात् सकललोकमातर शीलवती सौभाग्यवती प्रतिष्ठावती राज्ञी का वर्णन[५४] और उनके गुणधर्मों का कलापूर्ण कथन है। कुछ संख्याएँ बहुत ही अतिरंजित लगती हैं—चौसठ सहस्र अंतःपुर, सवालाष वारांगना, बत्तीस सहस्र देश, ९९ सहस्र द्रोणमुख, ९६ कोडि ग्राम, ९६ कोडि पदाति, ४६ सहस्र उद्यान, ८० सहस्र पंडित, १४ सहस्र संधान, ७२ लक्ष पत्तन आदि।[५५] इसके बाद महामल्ल रावण (पृ० १३०), अस्त्र-शस्त्र (पृ० १३५), रत्नजाति के तीस नाम और छत्तीस दंडायुधों का वर्णन (१३८-१३९) आदि महत्व के प्रसंग हैं।

५०. वही, पृ० १०९-११।
५१. वही, पृ० १२७।
५२. वही।
५३. वही, पृ० १२३।
५४. वही, पृ० १२४।
५५. वही, पृ० १२८।

सप्तांग राज्यलक्ष्मी में परंपरागत विषय ही है—

करि तुरंग रथ पायकसेन भांडागार कोष्टागार गढ ।[५६]

द्वादश तूर्यनिर्घोषनाद के नाम बताए गए हैं—

भंभा मउंग मद्दल कडंब झल्लरि हुडुक कंसाला ।
काहुल तिलिमा वंसो संखो पणवो य बारसमो ॥[५७]

तेरह रणनंदी तूर्य (रणवाद्यों) के नाम वहीं साथ मिल जाते हैं। लिपियों के नाम इस प्रकार हैं—

हंसालिवी, भूयलिवी जक्खा तह रक्खीह बोधव्वा ।
इड्डी जवणी तुरक्की कीरी दविडी य सिंधविया ॥
मालविणी नडि नागरि लाडलिवी पारसी य बोधव्वा ।
तह य निमित्ती व लिवी चाणक्की मूलदेवी अ ॥[५८]

नारी के रूपवर्णन का एक और प्रकार मिलता है—

हंसगति जिम चालति मयगल जिम माल्हती
कामिनी गर्व भांजति, चंद्रकला जिम गुणिहि बाधती
नयणवाणि जण वीधती ··· साक्षात् रति तणउ रूप[५९]

इसके पश्चात् विरहिणी की आह का शब्दचित्र है और फिर राजा के यश की उपमा परंपराभुक्त सफेद चीजों से दी गई है। मांगलिक द्रव्य और अलंकारभूषिता नारी का गुणगान पृ० १४२ पर गाया गया है। प्रभात, समुद्र, उष्णकाल, शीतकाल, राज्याभिषेक और नदी आदि[६०] का बड़ा साहित्यिक वर्णन है। स्त्रियों की चौंसठ कलाएँ[६१] और पुरुषों की बहत्तर कलाओं[६२] की सूचियाँ मिल जाती हैं। दिव्य पुरुष के ४३ सत्पुरुष गुण[६३] और नारी के ३३ स्त्रीगुणों का उल्लेख[६४] करते

५६. वही, पृ० १३६।
५७. वही, पृ० १३८।
५८. वही।
५९. वही, पृ० १४०।
६०. वही, पृ० १४६।
६१. वही, पृ० १५३।
६२. वही, पृ० १५४-५५।
६३. वही, पृ० १५५।
६४. वही, पृ० १५६।

हुए सभाशृंगार की समाप्ति होती है। प्रस्तुत ग्रंथ की सामग्री नाहटा जी ने लेकर 'सभा शृंगार' नामक स्वतंत्र ग्रंथ प्रकाशित किया है।

आंडेसरा जी के तीसरे संग्रह 'वर्ण्यवस्तु वर्ण पद्धति' में पहला महत्वपूर्ण चित्रण है विरहानल का—

'हार त्रोडती, वलय मोडती, आभरण भांजती, वस्त्र गांजती, किंकिणी कलाप चोडती, मस्तक फोडती, पेट कूटती, कुंतल कलाप रोलती, भूमि लोटती, लोचन बाष्पजलि कुच सिंचती, दीन बोलती, सखीजन अपमानती, थोडइ पाणी माछली जिम तालोवीली जाती, विकल थाती, खणि जोइ, खणि रोइ, खणि हसइ, खणि आक्रंदइ, खणि निंदइ, खणि मूंभइ, खणि भूभइ, खणि बूभइ'[६५]। इसी के साथ कोपानल का प्रज्वलित चित्रण है और फिर कलिवर्णन का प्रसंग है। आस्थानमंडप का वर्णन[६६] वास्तु की दृष्टि से पठनीय है। प्रासाद थर[६७] (प्रासाद स्तर) कथा के बाद अटवी का महाभयंकर रौद्र रूप चित्रित है। अजय दुर्ग के कतिपय उपमानों को बताकर अश्व की जाति कही गई है। ढंढ स्त्री[६८] का वर्णन कर मंत्रवादी शक्ति योगींद्र[६९] की करामातों को बताया गया है। तत्पश्चात् विद्वान[७०] की बड़ी विशद व्याख्या है। वह अठारह लिपियों, चौदह विद्याओं, छह तर्क और छह भाषाओं का मर्मज्ञ तो होता ही है, साथ ही छंद, अलंकार, चित्रकाव्य, महाकाव्य, दर्शन, आगम, ज्योतिष, शकुनशास्त्र, कामशास्त्र, गणित, धनुर्वेद, आयुर्वेद आदि शास्त्रों को जानने में सरस्वतीपुत्र वाचस्पति के सदृश शोभता है। लंकेश्वर रावण के ऐश्वर्य और पराक्रम का सांगोपांग चित्रण यों है--

'लंका राजधानि, त्रिकुट पर्वत गढ़, जीणइं मृत्यु बांधी पातालि घालिउ, नवग्रह षट तणइं पाईयं बांध्या, वाउ देवता, आंगणउं बुहारई, चउराशी देव छ डंड देइं, छ रितु पुष्प पूरइं, वमरा पाणी जइइ, सात समुद्र मांजणउं करइं, सात मावर

६५. वही, पृ० १५८।
६६. वही, पृ० १५६।
६७. वही, पृ० १६०।
६८. वही, भाग १, पृ० १६२।
६९. वही, पृ० १६३।
७०. वही, पृ० १६३।

आरती ऊतारई, विश्वकर्मा शृंगार करावइ, शेषनाग राजछत्र धरइ, गंगा यमुना चमर ढालई, बृहस्पति घडिवालउ वायई, शुक्र मंत्रि वइसइ...... धनवंतरि वइदउ करई, मेघु भामणडा भमाडइ, गौरी सण कातइ, लाछि वस्तु सातइ, नारद हेरउ करइ, नव खंड फिरइ, धनद यक्ष भंडारउ करइं, इसिउ रावण नरेश्वर।[७१] इसके बाद देशों की सूची[७२] में भारत के बाहर के महाभोट, सिंहल, चीन, महाचीन देशों के नाम भी हैं। विविध शास्त्रों[७३] की चर्चा के प्रसंग में २६ शास्त्रों की गणना कराकर इसकी समाप्ति होती है।

चौथे प्रकीर्ण वर्णक के प्रारंभ में जैन धर्म का माहात्म्य उपमानों से मंडित है--

'जिम अक्षरमाहि उंकार, मंत्रमाहि ह्रींकार, गंधर्वमाहि तुंबर, छत्रमाहि मेघाडंबर, वृक्षमाहि सुरतर, गंधवस्तमाहि कपूर, नदीमाहि गंगानूं पूर, वस्त्रमाहि चीर......पवित्र माहि पवन, दर्शन माहि जैन दरिशन, देवमाहि इंद्र, ग्रहणमाहि चंद्र तिम सिवहु धर्ममाहि जैन धर्म।[७४]

इसके बाद धर्मभावना का बड़ा ही रोचक वर्णन है :

'जिम प्रासाद शोभइ ध्वजाधारि, जिम हृदय शोभइ हारि, जिम गृह शोभइ उत्तम नारि, जिम मस्तक शोभइ केश प्राग्भारि, जिन कर्णा शोभई सुवर्णालंकारि, जिम शरीर शोभइ चंद्रमंडलि, स्त्रीकर्ण शोभइ सुवर्ण कुंडलि, सरोवर शोभइ कमलि, मुष शोभइ निर्मल नेत्र, रात्रि शोभइ चंद्रमंडलि, विवाह शोभइ कूरि, उत्सव शोभइ तूरि, नदी शोभइ पूरि, जिम सम्यकत्व शोभइ प्रभावना तिम धर्म शोभइ भावना।[७५]

असार संसार की चंचलता का वर्णन वैराग्य उत्पन्न करनेवाला हुआ है :

दुलनु भंडार, जिसिउं पिपलनूं पान, जिस्यु गजेंद्रनु कान, जिस्य वीजनु झबूकु, पोइणिइं पाणी तणइ टबकु, जिस्यु बहुबोलानो जीभनु लोलु, जिस्यु काननु, डोलो जिस्यु धजनु अंचल, तिसिउ संसार चंचल।[७६]

७१. वही, पृ० १६४।
७२. वही, पृ० १६५।
७३. वही, पृ० १६६।
७४. वही, पृ० १६७।
७५. वही, पृ० १६८-६६।
७६. वही, पृ० १६१।

अपुत्रवर्णन के प्रसंग में कुपुत्र की दुर्दशा का यथार्थ चित्रण है :

अधु'''नीठर बोल भणइं, अहंकारि हणहणइ, लक्ष्मीमदि कुपात्रि वरसइ, कुस्थान विलसइ, पराई भूमि ग्रसइ, चाडूए वचनि उल्लसइं, पाप करि उद्धसइं धर्मवार्ता हीए न दसइं, इस्या जे पुत्र अभक्त अजाण ते पापनउं प्रमाण।[७७]

इसके बाद सुपुत्र का प्रसंग है :

जे पुत्र विवेकविचारवंत, सहिजिइं संत, सौभाग्यवंत, गुरुयाँ प्रति भक्तिवंत, गुणवंत, देवगुरु तणइ विषय तत्पर, तु पुत्र पामीइ जइ पोतइ पुण्य तणउ भर।[७८]

सबसे अंत में १८ करों के नाम बड़े ही रोचक हैं :

दाण पूंछी हल मोंभ भाग मेट तलारक्षक वद्धापन मलवरक बल चंचा चारिका गढ वाटी छत्र आलहण थोटक कुमारादि सुखडी इति क्रमेणाष्टादश करा जाता।[७९]

पाँचवें संग्रह का नाम जिमणवार परिधान विधि है। यह पं० रत्नसोमगणि के शिष्य विद्यासोम मनि द्वारा लिखित है। इसकी रचना का समय पुष्पिका के अनुसार १६१८ ई० है।[८०] प्रारंभ में भोजन के स्थान की पवित्रता, आसन, पात्र और परोसनेवाली शृंगार नायिकाओं की शोभा तथा अनेक प्रकार के मेवा फलों की चर्चा है और अनेक पकवानों का उल्लेख करते हुए छत्तीस प्रकार के लड्डू कहे गए हैं :

सेवईया लाडू, मोतिया लाडू, झगरिया लाडू, बावा मुगीआ लाडू, अडदना लाडू, माठा, बाजणा, दलीआ लाडू, सतूना लाडू, पिपरिना लाडू, गुंदना लाडू, करहंडना लाडू, दोठानां लाडू, कसमसीआ लाडू, मसमसीआ लाडू, यासी लाडू, तावखानी लाडू, परवालीआ लाडू, जाडी सेवना लाडू, सिंहकेसरी लाडू, उसडना लाडू, दूधना लाडू, दहीथराना लाडू, खाना लाडू, करकरी लाडू, आसंधिना लाडू, मेथीना लाडू, समकितीया लाडू, पडवासना लाडू, समीना लाडू, टोपरांना लाडू, चाढआ लाडू, द्रावडीआ लाडू और चूरिम लाडू।[८१]

७७. वही, पृ० १६६।
७८. वर्णकसमुच्चय, पृ० १७०।
७९. वही, पृ० १७०।
८०. संवत् १६७५ वर्षे फागुण वदि ७ गुरौ वासरे।–वर्णक समुच्चय, पृ० ८।
८१. वही, पृ० १७३।

पुनः शकरपारा, साकरीआ, चिवा, दूधपाक, गुंदपाक, नालीअरपाक, आदि अनेक मिष्ठान्नों की चर्चा करते हुए लापसी बनाने का एक श्लोक उद्धृत है।[८२] पुनश्च इक्कीस प्रकार की प्रमुख शालि की चर्चा है : राइभोग शालि, सुगंधशालि, कमलशालि, कमोद शालि, कनडी शालि, परसुशालि, धानुरी शालि, वागडी शालि, करम शालि, करडीया शालि, सालीया शालि।[८३] नौ प्रकार के पान हैं—इवइं तंबोल, अडांगरा पान, तवकी पान, पाषरीआ पान, चेउली पान, श्रेष्ठि वेलिआं पानं, कपूर वेलिआ पान, नागरखंडा पान।[८४] सुपाड़ी के भी प्रकार वर्णित है- तवकी सोपारी, चेउली. कोली, चीकणी, लालीआँ, रौठां, भमरागर, कचुगर, तानुरा, मडावौं, नीली।[८५] मसाले और विविध पुष्प परिवार की भी सूची मिलती है। इसके बाद वस्त्रों[८६] की एक बहुत ही बड़ी सूची प्राप्त होती है। जहाँगीर काल की लिखी प्रति होने की वजह से मुगलकाल के आरंभ में जितने वस्त्र इस देश में बनने लगे थे और जो बाहर से मँगाए जाते थे उन सबकी नामावली है। संभवतः यह सूची किसी राजा के वस्त्रभंडारी से ली गई होगी।

छठा वर्णक 'भोजनविच्छित्ति' नामक है। इसमें विस्तृत रूप से वर्णित भोज की पद्धति मिथिला के समान है। पहले भोजनमंडप को लीप-पोतकर आसन बिछाने का विधान है :

'मांडयउ उचां तोरण मांडवउ, तुरत नवउ बहसिवानउ आंगणउ, ते तु नील रतन तणउ, ऊपर लइ मालि, मध्याह्न कालि, केलि पत्रइं छाया इस्या मंडप नीपाया, तलइ मांड्या पाट, ऊपरि पाथरथा रेसमी घाट।[८७] इसके बाद सोलहो शृंगार से सुसज्जिता नायिका भोजन परोसती हैं :

८२. दुग्धं गोधूमचूर्णं घृतगुडसहितं नालिकेरस्य खंडं।
द्राक्षाखर्जूर शुंठीतजमरिचयुतं पेशलं दैवपुष्पम्।
पक्त्वा लोहे कटाहे ज्वलविटलटलत्पावके मंदकाती।
धन्यो हेमंतकाले प्रचुरघृतयुतां भुंजते लापनश्रीम्॥
—वर्णक०, पृ० १७४।

८३. वही, पृ० १७५-१७६।
८४. वही, पृ० १७६।
८५. वही।
८६. वही, पृ० १८०-८१।
८७. वही, पृ० १८३।

'सोल श्रृंगार सज्या, बीजा काम तिज्या, सुजाय सहेली, लाडगहेली, हंसगतयं चालती, गजगतइ माहालती, कांम कामनी पालती, आँखिनइ मटकारइ मदननी वागुरा चालती, कस्तूरी अलंकृत भालपट्ट, तरुण तणां मांजइ मरइ, पूर्णचंद्र समान वदन, हेला मात्र जीस्यु मदन······घसमसती आवी, सघनालइ मनि भावी, गंगोदक दीघा, थाल कचोलनइं हाथ पवित्र कीधा।'[88] भोज में पहले फलों के परोसने का वर्णन है। इसके बाद अनेक पकवान। यहाँ पकवानों को घी से छानने का बड़ा ही रोचक वर्णन है। फिर ग्यारह प्रकार के लड्डू[89] परोसे जाते हैं: दलीआ, सेवईआ, कीरोना, तंदूलना, तिलनां, त्रिगडूना, मगरीआ, भगरीआ, माठा और सिंहकेसरीया। इसी सिंहकेसरीया के संबंध में प्राकृत गाथा भी उद्धृत है।[90] जिमणवार परिधान विधि की भाँति ही यहाँ भी लापसी बनाने की विधि पाई जाती है। यहाँ बारह प्रकार की शालि का उल्लेख है जो मिथिला के ग्रामों में बदले हुए नामों से आज भी उपलब्ध हैं: सुगंध, सुवर्ण, धउलि, राती, पीली, सुद्ध, कांमुदी, कलम, कुंकणी, देवजीरा, रायभोग, साठी और प्रवाली।[91] फिर अनेक प्रकार की दाल और घी की चर्चा है। ४६ प्रकार के पत्रशाक[92] के नामोल्लेख हैं। ६ प्रकार की भाजी रायता और पापड़ भी बताए गए हैं। बड़ा और दही के प्रकार गिनाकर पीने के पानी का उल्लेख है।[93] हाथ धोने के लिए सुगंधित पानी का वर्णन इस प्रकार है: केवडावास्यां पांणी, काथानां पांणी, कपूरवास्यां पांणी, पाडलवास्यां पाणी, चंदनवास्यां पांणी सुगंध पाणी, गंगोदक पांणी, तिणस्युं चलूकीधा।[94] अंत में मुखवास के सेवन और वस्त्रों को पहनाने का कथन है।

८८. वर्णक समुच्चय, भा० १, पृ० १८३-८४।

८९. वही, पृ० १८४-८५।

९०. चउसदिठकुसुमरसो उटठारसराजदव्वसंजोगे।
सोलसगंधद्दव्वा दहचीये सिंघकेसराये॥
—भोजनविच्छित्ति, वही, पृ० १८५, पादटिप्पणी।

९१. वही, पृ० १८५।

९२. वही, पृ० १८६।

९३. साकरनां पाणी, चंदनां पांणी, गंगानां पांणी, कपूरकस्यां पाणी,
एलची वास्यां पांणी, टाढां हिम शीतल पांणी।—वही, पृ० १८७।

९४. वही, भा० १, पृ० १८८।

वर्णकसमुच्चय का सातवां संग्रह शिवभद्र लिखित 'वीरभोजन वर्णक' है। इसमें पहले भोजन के आसन, पात्र आदि[95] को बताकर फल, पकवान, लड्डू, सालि और दाल के वर्णन पूर्ववत ही हुए हैं। इसका शाक-भाजी-प्रकरण[96] भी 'भोजन विच्छिति' की सूची के लगभग मिल जाता है। दाल, मसाले, दही, पानी, मुखवास, पान,[97] बहुमूल्य वस्त्रधारण, तिलक और अंत में विलेपन के लिये सुगंधित पदार्थों के उल्लेख के साथ यह समाप्त हो जाता है। सुगंधित विलेपन-पदार्थों का वर्णन पठनीय है :

'वली कासमीर केसरना छाटणा करि, वली भला विलेपन कस्तुर अंबर सौंधा सुगंध लगाइया, बावना चंदन विलेपन कीधा, सुगंध अरगजा लगाडि, वली चूआ चंदन चापेल तेल, मोगरेल तेल, फुलेल तेल, केवडेल तेल, जूयवेल तेल पोइडां अनेक फूल, जाय जूई कुंद वेल मोगरो बोलसिरी मालती केवडो दमणो मरुअं जातिकुसुम ते स्वजनवर्ग प्रतं बधावी सहु प्रति संतोषि।[98]

आठवें संग्रह भोजनभक्ति में भी भोजनविधि[99] का ऊपर जैसा ही संक्षिप्त वर्णन है। अंतिम तीन संग्रह हैं 'अहो स्यालक बोलि' वर्णक, 'अमदावादनुंवर्णन' और हस्तिवर्णन। वर्णकसमुच्चय के परिशिष्ट १ में सांडेसरा जी ने प्रयागदास कृत 'कपड़ाकुतूहल' नामक ग्रंथ का मुद्रण किया है। इसका एक नाम कपड़ाबतीसी भी था। दूसरे परिशिष्ट का नाम 'क्रयाणक वस्त्र आभरण नामावलि' है। इसमें कस्तूरी कपूर से कोथो, खुरासापी और ओवि विजय तक ३६० किराने की वस्तुओं[100] के नाम हैं। इसके बाद देवदूष्य, देवांग, चीनांशुक, पट्ट दुकूल से प्रारंभ कर रत्न कंबल तक ६८ वस्त्रों की सूची[101] दी है। आभरणनामानि के प्रसंग में कुंडल, हार, अर्द्धहार मे लेकर वाली, वेलिआ तक कुल १४२ आभरणों[102] के नाम दिए गए हैं जो बड़े ही महत्वपूर्ण हैं।

९५. वही, पृ० १८६।
९६. वही, पृ० १६०-६१।
९७. वही, पृ० १६१-६२।
९८. वही, पृ० १६२।
९९. वही, पृ० १६३-६४।
१००. वही भा० १, पृ० २१३-१६।
१०१. वही, पृ० २१६-१७।
१०२. वही, पृ० २१७-१८।

१. सभाशृंगार

नागरीप्रचारिणी सभा काशी की बारहट बालाबख्श राजपूत चारण पुस्तमाला के अंतर्गत प्रकाशित दसवाँ ग्रंथ है 'सभाशृंगार'।[103] श्री अगरचंद नाहटा जी ने बहुत ही श्रमपूर्वक इसका संग्रह किया है। वैसे तो डा० सांडेसरा जी ने भी अपने ग्रंथ में सभाशृंगार का समावेश किया है,[104] जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं, पर वह वर्णक एक ही संग्रह का है और उसका अधूरा अंश उन्होंने बाद में प्रकाशित किया है।[105] डा० सांडेसरा के वर्णकसमुच्चय (प्रथम भाग) में संगृहीत सभाशृंगार आकार में छोटा है और एक ही प्रति के आधार पर ज्यों का त्यों मुद्रित है। नाहटा जी के सभाशृंगार की विशेषता यह है कि उन्होंने कई प्रतियों के आधार पर समान विषयों को अलग अलग करके एक जगह प्रकाशित किया है।

सर्वप्रथम उन्हें बीकानेर के हस्तलिखित जैन ज्ञानभंडारों की प्रतियों के अवलोकन के समय 'कुतूहलम्' नामक एक छोटी सी सुंदर वर्णनोंवाली रचना मिली। उसके बाद संवत् १७६२ की लिखी हुई 'सभाशृंगार' (नं० ३) की एक प्रति प्राप्त हुई। तदनंतर सन् १६५० ई० में जैसलमेर में सोलहवीं शताब्दी की लिखी हुई एक अपूर्व प्रति बड़े उपाश्रय के यति लक्ष्मीचंद जी के पास मिली जिसके पत्रों के प्रत्येक उपांत में 'मुत्कलानुप्रयास' नाम लिखा हुआ था। इसके केवल ८ पत्रों में १०८ वर्णन मिले। डा० सांडेसरा से भी ४० पत्रों की महत्वपूर्ण अपूर्ण प्रति मिली। पुनश्च जोधपुर के केसरियानाथ जी के भंडार में सभा शृंगार (नं० १) की १८ पत्रों की अपूर्ण ही प्रति मिली जिसमें १५८ वर्णन थे। इसी बीच बीकानेर के खरतरगच्छ आचार्य के ज्ञानभंडार से कुशल धीर रचित सभा-कौतूहल की ६ पत्रों की एक अपूर्व प्रति मिली। मुनिवर्य पुण्यविजय जी द्वारा पालभंडार से सभाशृंगार (नं० २) की ६ पत्रों की प्रति सं० १६७७ की लिखी मिली। मुनिवर जिनविजय जी के संग्रह से खरतरगच्छीय कविवर सूरचंद्र रचित 'पदैकविंशति नामक ६८ पत्रों का राजस्थानी और संस्कृत मिश्रित गद्यवर्णन मिला। जयपुर के दिगंबर भंडार, विनयसागर जी, चित्तौड़ के यति बालचंद्र जी,

१०३. सभाशृंगार, ना० प्र० सभा, संवत् २०१६।
१०४. डा० भोगीलाल ज० सांडेसरा, वर्णकसमुच्चय, भाग १, पृ० १०५-१५६।
१०५. वही, भा० २, पृ० १२०-२३।

बड़ौदा, पूना तथा भारतीय विद्याभवन के संग्रह से प्राप्त २५-३० प्रतियों को प्राप्त करके प्रस्तुत ग्रंथ को विस्तारपूर्वक तैयार किया गया है।

'सभाश्रृंगार' निम्नलिखित १० विभागों में विभाजित है—

१. देश, नगर, वन, पशु-पक्षी, जलाशय।[१०६]
२. राजा, राजपरिवार, राजसभा, सेना, युद्ध।[१०७]
३. स्त्री-पुरुष-वर्णन।[१०८]
४. प्रकृतिवर्णन (प्रभात, संध्या, ऋतु आदि)।[१०९]
५. कलाएँ और विद्याएँ।[११०]
६. जातियां और धंधे।[१११]
७. देव, वेताल आदि।[११२]
८. जैन धर्म संबंधी।[११२*]
९. सामान्य नीति वर्णन।[११३]
१०. भोजनादि वर्णन।[११४]

इन विभागों का परिचय हम नीचे प्राप्त करेंगे—

पहले विभाग के प्रारंभ में ही देश नामों की चार सूचियां पाई जाती हैं। इनकी पहली सूची में १५१ नाम हैं, दूसरी सूची में ४२, तीसरी में ४३ और चौथी में ३४ देशों के नाम हैं। इन सूचियों के नाम लगभग समान ही हैं। पुराणों के भुवनकोशों की जनपद सूचियां सुप्रसिद्ध हैं। उनमें से मूल सूची का संकलन पाणिनिकाल में हुआ होगा।[११५] उसके बाद गुप्तकाल में उससे बड़ी

१०६. सभाश्रृंगार, पृ० १-२८।
१०७. वही, पृ० ३१-८४।
१०८. वही, पृ० ८३-११४।
१०९. वही, पृ० ११७-१२४।
११०. वही, पृ० १३७-४३।
१११. वही, पृ० १४७-५१।
११२. वही, पृ० १५५-१७२।
११२*. वही, पृ० १७७–२२२।
११३. वही, पृ० २२५–७७।
११४. वही, पृ० २८१–३२०।
११५. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, भूमिका, सभाश्रृंगार, पृ० ६।

एक दूसरी सूची तैयार हुई जो बृहत्संहिता[116] और मार्कंडेयपुराण[117] में पाई जाती है। युगानुरूप इस सूची के भी संस्करण बनते रहे, जिनमें से एक गुर्जर प्रतीहार युग के महाकवि राजशेखर ने काव्यमीमांसा[118] में उद्धृत की है। उसके बाद तुर्क युग की सूची पृथ्वीचंद्रचरित में मिलती है। वर्णरत्नाकर में भी यह सूची अवश्य रही होगी जो अंशतः अब खंडित होकर कुछ ही नाम मिलते हैं। सभा श्रृंगार की यह सूची मुगलकाल में संगृहीत हुई होगी। इसमें नए और पुराने नामों की मिलावट है। पुराने नामों में शक, यवन, मुरुंड, हूण, रोमक, कंबोज, कारव आदि हैं। ताईक (सं० १४४) नाम ताजिक देश के लिये है। भारत के बाहर की सूची 'पर-द्वीप नाम' के अंतर्गत अलग दी गई है,[119] जिसमें हुर्मुज, मक्का, मदीना, पोर्तुगाल, पीगु, रोम, अरब, बलख, बुखारा, चीन, महाचीन, फिरंग हबस आदि के नाम तो ठीक हैं किंतु दीव, घोघा, डाहल, मलबार, चीउल, मुलतान, जम्मू, आबू और ढाका के नाम इस देश के ही हैं। छठी सूची 'देशों की उपज'[120] के अंतर्गत जो संख्याएँ दी हुई हैं उन्हें स्पष्टतः ग्राम मानना चाहिए। १।७ में निगाम, ग्राम, पुर, पाटण तो नगर के पर्याय हो सकते हैं आश्रम, उद्यान, द्वीप के नहीं। सूची १।८, १।६ में कुछ नए और कुछ पुराने नगरों के नाम हैं।[121] दसवीं सूची में संक्षेप में नगर का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

देवकुल विभूषित, सप्तभूमिक धवलहर अलंकृत सविस्तर तर हट्टश्रेणि विराजित, समस्त क्रियाणक विश्राम भूमि, कूप, वापि सरोवर सनाथ। प्राकार वेष्टित, खातिका दुर्ग। इसउ नगर नगरी।[122] १।११ में रत्नपुर जैसे 'महामनोहर' नगर का चित्रण हुआ है। सूची १।१० से १।२५ तक कुल सोलह वर्णक नगर-वर्णन-संबंधी बड़े ही महत्व के हैं।[123] १।२१ और १।२२ में चौराशी चौहटों की

११६. वराहमिहिर, बृहत्संहिता, कूर्म विभागाध्याय।

११७. दे० जनपदसूची तथा कूर्मसंस्थान के अनुसार देशसूची, मार्कंडेय पुराण अ० ५७–५८।

११८. राजशेखर, काव्यमीमांसा, अ० १७।

११९. सभाश्रृंगार, पृ० ५।

१२०. वही, पृ० ६।

१२१. वही, पृ० ६।

१२२. वही, पृ० ७।

१२३. वही, पृ० ७–१५।

दो सूचियाँ हैं।[१२४] इनमें पहली पृथ्वीचंदचरित्र की सूची से बहुत मिलती है। 'धवलगृह वर्णन', 'जिन प्रासाद' और 'स्वयंवरा मंडप' वास्तु की दृष्टि से महत्व के हैं।[१२५] स्वयंवरमंडप का वर्णन करते हुए पंचवर्णी देवांशुक के बने हुए ऊलोच (शामियाने) के अतिरिक्त तलिया तोरण उठाने का भी उल्लेख है। श्री वेणीप्रसाद द्वारा संपादित पृथ्वीराज रासो के लघु संस्करण में इसके लिये तिलहगातोरण रूप मिलता है। डा० अग्रवाल जी के विचार से यह एक विशेष प्रकार का दोमंजिला तोरण होता था जिसे स्थापत्य की परिभाषा में तलकतोरण कहते थे।[१२६] बाडी वर्णन के बाद आराम वर्णन की दो सूचियों में उद्यान के लिये उपयुक्त वृक्षों की नामावली है।[१२७] इसके बाद सुगंध वृक्षों की भी चार सूचियाँ मिलती हैं।[१२८]

अटवी वर्णन नौ प्रकार के संगृहीत हैं।[१२९] उसके बाद वृक्षनामों की छः सूचियाँ हैं। संस्कृत साहित्य में प्रायः वन वर्णन के प्रसंग में ऐसी ही सूचियाँ मिलती हैं। पक्षी नामों की दो सूचियाँ भी यहाँ हैं।[१३०] चतुष्पद नामों की तीन सूचियों में प्रथम दो तो वन्यजीव संबंधी हैं और तीसरी सिंह-वर्णन संबंधी।[१३१] उसी पृष्ठ पर पच्चीस कीट नामों को गिनाकर २६ पर्वतों के नाम हैं। सरोवर वर्णन की तीनों सूचियां वर्ण रत्नाकर से तुलनीय हैं। इसमें कमल के लिये शतपत्र सहस्रपत्र, के अतिरिक्त लक्षपत्र[१३२] की कल्पना मौलिक है। पनघट वर्णन के बाद नदी नामों की दो सूचियां मिलती हैं।[१३३] १।६१ में नदी नाम (२) के अंत में लिखा है कि चौदह लाख छप्पन हजार नदियां लवण समुद्र में मिलती है[१३४], जो बहुत ही अतिरंजित है। समुद्र वर्णन करते हुए पहला विभाग समाप्त होता है।

१२४. वही, पृ० १३–१४।
१२५. वही, पृ० १५–१६।
१२६. वही, भूमिका, पृ० ७।
१२७. वही, पृ० १६–१७।
१२८. वही, पृ० १७–२८।
१२९. वही, पृ० १८–२१।
१३०. वही, पृ० २३।
१३१. वही, पृ० २४।
१३२. वही, पृ० २५।
१३३. वही, पृ० २७–२८।
१३४. वही, पृ० २८।

दूसरे विभाग के अंतर्गत राजा के वर्णन के १६ प्रकार दिए हैं। पहले वर्णन के अनुसार निम्न देशों पर शासन करने का उल्लेख है :

> जिणइ राजायेंइ गौड़ देश नउराउ गांजिउ, भोट नूं मांझिउ
> पंचाल नउ पालउ पुलइ, कानड देश नउ कैठारि कलइ।
> ढूंढाड़ि (जयपुर) नउ ढोवणउ ढोयइ, वावर (सौराष्ट्र) देश रउ
> वारि बइठउ ठगमग जोमइ ।
> चौड़ नउ त्रापिउ, कश्मीर नउ थरहर कांपिउ ।
> सोरठी उ सेवइ, दसउर (दशपुर मालवा) नउ दंड देवइ
> मेवाड़ नउ माल आपइ, काछ नउ कापइ ।
> अंग देश नउ अंग ओलगइ, जालंधर नउ जीवितव्य तणइ कारणि रिगइ।[१३५]

राजा वर्णन की बारहवीं सूची में 'अष्टादश द्वीप कीर्त्ति विख्यात' और एकोनविंशति पाटण नायक (१९ पत्तनों के नायक) विशेषण मध्यकालीन प्रतापी चोल सम्राटों के विशाल सामुद्रिक राज्य और दिग्विजय के लिये किए गए, यह अभिप्राय है। इसके बाद अहंकारी राजा, कुपित राजा, रानी, मंत्री, हस्ती का वर्णन करते हुए राजाओं के नाम भी लिए हैं।[१३६] चक्रवर्ती के वर्णन में अनेक संख्याओं का उल्लेख है।[१३७]

रावण, राम, सीता आदि का वर्णन[१३८] साधारण है। दशार्णभद्रसवारी[१३९] प्रकरण में मेघाडंबर जैसे कई शब्द महत्व के हैं। राजयश[१४०] की उपमा परंपरानुगत सफेद पदार्थों से दी गई है। रानी का वर्णन छः सूचियों में मिलता है।[१४१] राजकुमार के वर्णन पांच सूचियों में हैं जो सामान्य कोटि के हैं।[१४२] छः सूचियों में उपलब्ध राजसभा के वर्णन सांस्कृतिक सामग्री से भरे हैं।[१४३] मंत्री वर्णन की भी छः

१३५. सभाशृंगार, पृ० ३६ ।
१३६. वही, पृ० ३६–४३ ।
१३७. वही, पृ० ४३ ।
१३८. वही, पृ० ४४–४७ ।
१३९. वही, पृ० ४८ ।
१४०. वही, पृ० ४८ ।
१४१. वही, पृ० ५०–५४ ।
१४२. वही, पृ० ५५–५६ ।
१४३. वही, पृ० ५७–५६ ।

सूचियाँ हैं।[१४४] प्रतीहार, मंडलीक, लड़ायत, राजसेवक और सुभट के बाद तीन सूचियों में गढ़ का वर्णन है।[१४५] तीनों में ही लोहे के महाकाम भोगल का उल्लेख है। प्रतोली या कपाट के प्रसंग में उसका अर्थ परिघ या दृढ़ अर्गला होना चाहिए।[१४६] आस्थानमंडप का वर्णन कर गजवर्णन नौ सूचियों में और सात सूचियों में अश्ववर्णन[१४७] होता है। अश्वों के नाम, रंग एवं देशों के अनुसार रखे जाते थे। अश्वी, ऊँट और रथ के संक्षिप्त विवरण के बाद छत्तीस दंडायुधों के नाम शस्त्रवर्णन की प्रथम सूची में मिलते हैं,[१४८] पुनश्च शस्त्रवर्णन की पांच सूचियां मिल जाती हैं।[१४९] छुरीकार, धनुर्धर और पैदल योद्धा के वर्णन के ७ प्रकार[१५०] बड़े ही विस्तार के साथ मध्यकालीन वीरकाव्यों की रूढ़ियों पर आधारित है।

तीसरे विभाग में स्त्री पुरुषों का वर्णन है। सत्पुरुष के गुणों की सूची एवं उसके स्वभाव, परोपकारों और गुणों की उपमाएँ रोचक हैं।[१५१] दुर्जन के लक्षण भी विस्तार सहित कहे गए हैं।[१५२] शीलवती स्त्रियों के गुणों तथा अंगों की उपमाएँ सात सूचियों में मिलती हैं।[१५३] अधम अथवा दुष्ट स्त्रियों की कुरूपता, दुर्गुण आदि को भी विस्तार से समझाया है।[१५४] वेश्यावर्णन के बाद मालवा, मेवात, मारवाड़, दक्षिण और गुजरात की स्त्रियों के नामों की अलग अलग सूचियां साहित्य में पहली बार ही यहाँ मिलती हैं।[१५५]

चौथे विभाग में प्रकृतिवर्णन का संग्रह है जिसमें प्रभात, सूर्योदय, संध्या, अंधकार, चंद्रोदय, वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमंत, शीत आदि का वर्णन है।

१४४. सभाशृंगार, पृ० ५६–६१।
१४५. वही, पृ० ६३–६४।
१४६. डा० अग्रवाल, भूमि०, सभाशृंगार, पृ० ८।
१४७. सभाशृंगार, पृ० ६५–७०।
१४८. वही, पृ० ७१।
१४९. वही, पृ० ७१–७२।
१५०. वही, पृ० ७३–८५।
१५१. वही, पृ० ८६–९३।
१५२. वही, पृ० ९५–९८।
१५३. वही, पृ० ९८–१०३।
१५४. वही, पृ० १०३–१०८।
१५५. वही, पृ० ११३–११४।

प्रभातवर्णन की पहली सूची मौलिकता से परिपूर्ण है। संस्कृत और अपभ्रंश साहित्य की रूढ़ियों से यह सर्वथा मुक्त है:

> हवै कूकडा बोल्या, लगारेक नींद थी डोल्या।
> नीदे झकोल्या, मूँ को संभोग नी लोल्या स्त्री भर्तार ढमडोल्या।
> आवी नारी, बार उघाड़ी, राति अंधारी······
> सूरज उग्यो, संसार जग्यो, पनघट लग्यो।
> आप आपणा धर्म करीइं पुण्य करीयं, अरिहंत धरीयं
> सुणौ हो भात, करो पुण्य नी बात
> पवित्र करो गात, गई रात, थयो प्रभात ॥[१५६]

दूसरी सूची में कतिपय रूढ़ियों का दर्शन हो जाता है:

> प्रभातिक सूर्य वाजिया, राजभवन वैतालिक पढइ
> हस्ति सिंखलारवि कानि पड़ियउ न सांभलियइ।[१५७]

सूर्योदयवर्णन संक्षिप्त किंतु चित्रात्मक है।[१५८] संध्या का बड़े विस्तार से वर्णन है। संध्यावर्णन का प्रारंभ इस प्रकार होता है[१५९]—

> सूरज ना किरण पश्चिम ढल्या, पंथी सगां नै मल्या।
> विरही ना हिया बल्या, नोवाल घरै वल्या
> चोपूं लाज्या, आप आपणा घरै आव्या।
> पंखी टलवल्या, मालै आवानै खलभल्या।

चंद्रोदय का वर्णन थोड़े में ही मुग्धकारी हुआ है।[१६०] अंधकार का वर्णन करते हुए स्त्री-वेणी, यमुना प्रवाह, कज्जल अंगार और अंजनाचल शिखर की उपमाएँ पुरानी है।[१६१] वसंत के बाद ग्रीष्म का रोचक चित्रण वर्णरत्नाकर के बाद यहीं मिलता है। उष्ण काल के तीसरे वर्णन में कहा है कि सूर्य वैसा ही तप रहा था जैसे बावन पल की तोल का सोने का गोला दहकता हो।[१६२] वर्षाकाल-वर्णन की पाँच सूचियों में भी कई नई जानकारी मिलती हैं। विष्णुपुराण के

१५६. सभाशृंगार, पृ० ११७–१८।
१५७. वही, पृ० ११८–१९।
१५८. वही, पृ० ११९।
१५९. वही, पृ० ११९।
१६०. वही, पृ० १२०।
१६१. वही, पृ० १२०–२१।
१६२. वही, पृ० १२३।

कलिचरित का संनिवेश हुआ। संवत् १४८६ में हीरानंद सूरि ने कलिकाल एष लिखा था। रामचरितमानस का कलिवर्णन उसी परंपरा में है। बान कवि ने संवत् १६७४ में एक कलियुगचरित्र की रचना की थी। सभाशृंगार का एक वर्णन कलि के चित्रण के लिये उदाहरणस्वरूप देखें :

> इसी स्त्री अनर्गल देव निःफल।
> पृथ्वी अफल, राजान अबल।
> चोर प्रबल, शत्रु बहल।
> साधु विरल, मंडलीक कुटल।
> दर्शनिया शिथिल, इसी कलि।[१६३]

पाँचवें विभाग मे कलाओं और विद्याओं की विविध सूचियाँ हैं। पहले कलाभेद के नाम से वणिक की कलाओं की ७२, वेश्या की ६४, जुआरी की ७४ और रस-वणिक की ७५ संख्या बताई गई है।[१६४] कलापुरुषप्रकरण में पुरुष की ७२ कलाओं के नाम हैं।[१६५] स्त्रियों की ६४ कलाओं की दो सूचियाँ मिलती हैं।[१६६] प्राचीन काल की अनेक विदग्ध गोष्ठियों में इन कलाओं की आराधना की जाती थी। वक्रोक्ति, काव्यशक्ति, व्याकरण, वचनपाटव, वीणा, कलाकथन, अङ्कविचार, प्रश्न-प्रहेलिका, अंताक्षरिका आदि विषय मनोविनोद के साधन थे। पाँचवीं सूची में वशीकरण विद्या के भी ३१ साधन बताए हैं।[१६७] ३६ राग-रागिनियों की सूची 'रागनाम' के अंतर्गत है।[१६८] बद्ध नाटक में ३२ अभिप्रायों[१६९] द्वारा संपादित नाट्यविधि का उल्लेख है जो जैन परंपरा में प्रसिद्ध हो गई थी और जिसका विस्तृत वर्णन रायपसेनिय सूत्र में आया है। इनमें से कई तो नाट्यशास्त्र और संगीतरत्नाकर के नर्तनाध्याय प्रकरण के हैं। बाजों के नामों की चार सूचियाँ दी गई हैं।[१७०] काव्य के ४६ भेद मिलते हैं।[१७१] इन्हें विद्या के भेद

१६३. वही, पृ० १३४।
१६४. वही, पृ० १३७।
१६५. वही, पृ० १३७।
१६६. वही, पृ० १३८–१३६।
१६७. वही, पृ० १३६।
१६८. वही, पृ० १४०।
१६९. वही, पृ० १४०।
१७०. वही, पृ० १४०–४१।
१७१. वही, पृ० १४२।

मानना ठीक है क्योंकि काव्य, छंद, ज्योतिष, वैद्यक, प्राकृत, तर्क, महाकाव्य, स्मृति, पुराण, चित्रकाव्य आदि सभी का समावेश इसके अंतर्गत है। विद्वान-लक्षण वर्णरत्नाकर के महादि वर्णन का ही लघु अंश है। वादींद्र को अठारह लिपियों, चार विद्याओं, अनेक प्रकार के काव्य अर्थ, समस्यापूर्ति और गुप्त लेख में निष्णात माना गया है।[१७२] अंत में लिपियों की तीन सूचियाँ मिलती हैं।[१७३] इनमें कुछ नाम तो काल्पनिक और अनेक नाम वास्तविक जीवन से संबंधित हैं, जैसे नागरी लिपि, लाट लिपि, पारसी लिपि, हमारी लिपि (अमीर या तुर्की सुल्तानों की लिपि), मराठी लिपि, चौडी (चोल देश की तमिल लिपि), कुँणी, कान्हडी, सिंहली, कीरी (कीर या टक देश की टकी लिपि)।

छठे विभाग में जातियों और धंधों की उपयोगी सूचियाँ हैं। पहली सूची में ३६ पौनि या नेगियों की नामावली है [१७४] जिनका उल्लेख साहित्य में आया है। पेशेवर जातियों के कुल १०८ नाम[१७५] रोचक हैं जैसे पारखि (रत्नों की परीक्षा करनेवाले), दोसी (दूष्य या वस्त्रों का व्यवसाय करनेवाले), पटउलिया (पटोला बुननेवाले), जोगी (जोगिया, गीत गाकर भीख माँगनेवाले), भोई (सं० भोगी-हाथियों के अधिकारी), परिपट (बरहठा या धोबी जिसे देशीनाममाला में परीयह कहा है), सुई (संस्कृत-सौचिक या दर्जी), ताई (संस्कृत त्रायी या आरक्षक), वेगड़िया (संस्कृत वेंकटिक रत्नतराश) आदि। तीसरी सूची में ८४ प्रकार की वणिक जातियों के नाम हैं[१७६] तथा चौथी और पाँचवीं सूची में ३४ प्रकार के ब्राह्मणों।[१७७] तथा राजपूतों के ३६ कुलों की सूची वर्णरत्नाकर के समान यहाँ भी है। वर्णरत्नाकर में ७२ राजकुलों की भी गिनती है[१७८] जिसका उल्लेख आगे करेंगे। महाजन विरुदावलि[१७९] और 'साहुकार विरुदावली'[१८०] में

१७२. वही, पृ० १४२।
१७३. वही, पृ० १४३।
१७४. वही, पृ० १४७।
१७५. वही, पृ० १४७।
१७६. वही, पृ० १४७–४८।
१७७. वही, पृ० १४९।
१७८. वर्णरत्नाकर, पृ० ६१।
१७९. सभाशृंगार, पृ० १५०।
१८० वही, पृ० १५०–५१।

छत्तीस वेलाउल विख्यात[१८१] की चर्चा है। इसका अर्थ यह है कि बड़े साहूकारों की कोठियाँ या लेनदेन के सूत्र ३६ बेलाउल या समुद्र तटवर्ती पत्तनों के साथ जुड़े रहते थे और उनके साथ उनके हुंडी-परचे का भुगतान चलता रहता था। 'संवत्सर मुद्रा' करणाहार[१८२] विरुद भी किसी महत्त्वपूर्ण तथ्य का व्यंजक है। संभवतः नए वर्ष के आरंभ में संवत्सूचक व्यापारमुद्रा या भाव-ताव का आरंभ करने का श्रेय रखनेवाले शिरोधार्य महाजन के लिये यह विरुद था। इसी प्रकार 'कडाह समुद्र'[१८३] विरुद भी ध्यान देने योग्य है। कटाह द्वीप के पूर्वी समुद्र या द्वीपांतर के साथ व्यापार करने का प्राचीन गुप्तकालीन संकेत इसमें बच गया था। अंत में श्रावक के नामों की तीन सूचियाँ हैं।

सातवें विभाग में देवी-देवता आदि का वर्णन है। प्रथम देवताप्रकरण में मुख्य देवता नौ कहे गए हैं ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश, भगवती, शक्ति, राम, कृष्ण, हनुमान। इनके आसपास ये लोक देवता हैं: खेत्रपाल, गागो, पाबूदेव, शक्तिदेव, रामदेव, रामापीर, भैरव, पीर, दाउलपीर, भूत, सीतला।[१८४] शकिनी के भयावह वर्णन के बाद चार सूचियों में वेताल के विकराल रौद्र रूप का चित्रण वर्णरत्नाकर के समान हुआ है।[१८५] महासिद्ध, सिद्ध, योगींद्र, पुतली, रोगातुर व्यक्ति, प्रसन्न व्यक्ति, कांतिहीन, भाग्यवान, पुण्यवान, लक्ष्मीवंत और वणिक का वर्णन सामान्य है।[१८६] श्रेष्ठि के वर्णन में कहा गया है कि उसके यहाँ लक्ष्मी के निधान कलश रहते हैं और लाख धन के सूचक दीप जलते हैं एवं करोड़ की सूचक ध्वजाएँ फहराती हैं।[१८७] श्रेष्ठिपुत्र के गुण वर्णरत्नाकर के वणिक पुत्र के गुण से मिल

१८१. वही, पृ० १५०-५१।

१८२. वही।

१८३. वही, पृ० १५१।

१८४. वही, पृ० १५५।

१८५. 'गलइ रुंडमाल वहतउ, अट्टहास, करतउ, कातर आतुर बीहावतउ।
प्रत्यक्षकाल, कंकाल, कराल वेताल।'
'सूप जिसा नख, लोडउ जिसि आंगुली, लोह तणी नीसाह जिसा पाय।
ताल वृक्ष जिसी दीर्घ जंघ, जिसी कूभी तणउ खावरु तिसउं उदरू।'
—सभा श्रृंगार, पृ० १५५-५६; वर्णरत्नाकर, ए० सो०, १६४०, पृ० ५२-५३।

१८६. सभाश्रृंगार, वही सं० पृ० १५७-६३।

१८७. सभाश्रृंगार, पृ० १६३ पर—
बेउ लक्ष्मी निधान कलस आथाइ,
लाखि दीवउ ज्वलइ। ध्वज लहलहइ, हसउ पनउतउ सोहि॥'

जाते हैं।[188] श्रेष्ठि प्रवहणयात्रा के वर्णन में देशांतर के योग्य भांड या माल को देशांतरोचित क्रियाणां कहा गया है और कूपदंड या मस्तूल के लिये कुआखंभ शब्द है।[189] निर्धन वर्णन के चार वर्णक और दरिद्री, जुआरी, चोर, वृद्ध वर्षा, फूहड़ स्त्री, रोग, उपचारक प्रकार संबंधी वर्णन साधारण हैं।[190] अंत में दुर्भिक्ष का बड़ा ही जीवंत चित्र दिया गया है।[191]

आठवें विभाग में जैन धर्म संबंधी वर्णकों का संग्रह है। सर्वप्रथम तीर्थंकर का वर्णन प्रारंभ में ही है। इसके बाद प्रथम ऋषभदेव, आदि दाथ, जिन बिंब, परमेश्वर की नखकांति आदि श्रद्धाभाव से वर्णित है।[192] समवसरण की पहली सूची में रत्नमय पीठ, प्राकार, हेममय कौशीश, प्रतोली द्वार, देव प्रतीहार, सुवर्णमय स्तंभ, मणिमय कुंभ, रत्नमय तोरण, वंदरमाल (बंदनमाला), विशाल छत्र, पुतली, इंद्रनील निर्मित मगरमुख, पंचवर्ण ध्वज, मणिबद्ध पीठ, स्वर्ण-रत्नमय सिंहासन, पायपीठ (पादपीठ), आतपत्र छत्र, चँवर, भामंडल, लक्ष्मी-कर्ण-कुंडल, धर्माचक्र, देवदुंदुभि, इंद्रध्वज आदि सांस्कृतिक महत्व की सामग्रियाँ हैं।[193] समवसरण के और दो प्रकार से वर्णन के बाद जिनवाणी संबंधी चार वर्णक हैं।[194] तदुपरांत धर्म उपदेश, जिनोपदेश, धर्मकृत्य, दान, शील, तप, भावना, दया, धर्ममाहात्म्य आदि के वर्णक हैं।[195] युगलिया सुख वर्णन में संस्कृति और कला की अनेक निधियाँ हैं।[196] तदुपरांत पुण्यप्रभाव, पापफल, नवकार महिमा, संघ तपोधन वर्णन, मोक्षार्थी, मुनिवर्णन, गुरुवर्णन, महासती, साधु, श्रावक, सात क्षेत्र आदि के वर्णक हैं।[197] ८४ गच्छों के नामों की सूची के बाद जैनमत, एकादशांग सूत्र, १२ उपांग, १० पयन्ना, छः छेद ग्रंथ, मूल आगम

१८८. तुलनीय सभा शृंगार श्रेष्ठिपुत्र वर्णन, पृ० १६४ तथा वर्णरत्नाकर, पृ० सो० संस्करण, पृ० ६६ (वणिकपुत्र वर्णना)।
१८९. वही, पृ० १६४।
१९०. वही, पृ० १६४–७२।
१९१. वही, पृ० १७२–७३।
१९२. सभाशृंगार, पृ० १७७–७८।
१९३. वही, पृ० १८०–८१।
१९४. वही, पृ० १८३–८५।
१९५. सभाशृंगार, पृ० १८५–९५।
१९६. वही, पृ० १९६–१९७।
१९७. वही, पृ० १९७–२१०।

नव तत्व, नव विगय आदि वर्णित हैं।[१९८] चतुर्दश महास्वप्न वर्णन क्रम में[१९९] गज, वृषभु, सिंह, लक्ष्मी, पुष्पमाला, चंद्र, सूर्य, ध्वज, कुंभ, सरोवर, रत्नाकर, देवविमान और रत्नराशि के बाद अंतिम स्वप्न में निर्धूम अग्निशिखा को सदाज्वालायुक्त ऊर्ध्वमुखी धकधक करता हुआ वैश्वानर कहा गया है।[२००] सबसे अंत में लक्ष्मी देवी और उनके पद्मसरोवर में खिले मुख्य कमल का बहुत ही सुंदर वर्णन है।[२०१]

नवें विभाग में सामान्य नीतिपरक वर्णकों का संग्रह है। संपूर्ण प्रकरण बुद्धि को बहुत अधिक खुराक पहुँचाने में समर्थ है। प्रत्येक वर्णन सहज और शिक्षाप्रद है। उदाहरणस्वरूप सोलहवें वर्णक 'ये इनको जानते हैं' की कुछ पंक्तियाँ ये हैं—

मन जाणइ पाप, मा जाणइ बाप॥
हंस जाणइ खीर, मच्छ जाणइ नीर॥
मुँह जाणइ मीठा, दृष्टि जाणइ दीठा॥
पग जाणइ पाणी, राग जाणइ राणी॥ आदि[२०२]

'विनाश'-वर्णन में यह बताया है कि किससे किसका विनाश होता है:

तप क्रोधे विणसे, सनेह विरहे विणसे।
व्यवहार अविस्वासे विणसे, गर्वइ गुण नासे॥ आदि।[२०३]

'इनके बिना ये नहीं' के प्रसंग में कैसी सरल शिक्षा है:

गुरु बिना बाट नहीं, द्रव्य बिनां हाट नहीं।
सूतार बिना खाट नहीं, सण बिना त्राट नहीं॥

१९८. वही, पृ० २१२–१३।
१९९. वही, पृ० २१३–२२८।
२००. तेज प्रखरु, चउदमम स्वप्न वैश्वानरु।
सरुज्वाला करासु, देखतां सोख्यकारु।
उर्द्धमुखु, धूप नइ विषइ विमुखु।
धगधगाय मानु, स्वप्न मांहि प्रधानु।
होतव्य द्रव्य नउ प्रसणाहारु, तेहतु वर्तइ लोकव्यवहारु।
—सभाशृंगार, पृ० २१८।
२०१. सभा शृंगार, पृ० २२१–२२।
२०२. वहीं पृ० २३०।
२०३. वही, पृ० २३६।

काछ बिना पाट नहीं, घात बिना काट नहीं।
कुंभार बिना माट नहीं, सोनार बिना घाट नहीं ॥[२०४]

गुण के साथ दोष भी रहता है, काम कोई करे फल अन्य को मिले। संसारस्वरूप लक्ष्मी की चंचलता आदि अत्यंत ही सुपाठ्य प्रकरण हैं। 'चंचल वाक्य' वर्णक में उपमानों की छटा चित्ताकर्षक है :

चंचल मन ऐसा है जैसे हाथी का चंचल कान, पीपल का पान, संध्या का बान, दुहागण (परित्यक्ता) का मान, रावण की माया, माटी का घाट, बादल की छाँह, कापुरुष की बाँह, पानी की तरंग, पतंग (लकड़ी) का रंग, तृणों की आग, दुर्जन का राग।[२०५] विशिष्ट पदार्थों के वर्णक में कई पदार्थ ध्यान देने योग्य हैं। साठी धान, पाटन का पान, सोरठी गाय, कश्मीर का केशर, पूर्व दिशा का भाट, मेघाडंबर छत्र, आबू तणउ देवड़ो (आबू के जैन मंदिर), पाटण तणो सेवारो (पाटण के श्वेतांबर यति), उजेणी तणु ढोर; अजयमेरु तणो मोर, वाणारसीउ धूर्त, काश्यपगोत्र, छत्तीस नाणा, त्रिणिसइं साठि किराणां।[२०६] छत्तीस नाणक या सिक्कों को श्रेष्ठ मानने का कारण डा० अग्रवाल जी के अनुसार संभवतः यह है कि ३६ दाम या तांबे के पैसों का एक चाँदी का रुपया माना जाता था।[२०७]

३६० प्रकार के किरानों को भी उत्तम कहा गया है। ३६० किरानों की सूची डा० सांडेसरा द्वारा संगृहीत वर्णकसमुच्चय में मिल जाती है।[२०८] विशेष पदार्थों में निम्नलिखित ध्यान देने योग्य हैं :

हस्ती तो कजलीवन री, पदमनी सिंहलद्वीप री,
चतुराई गुजरात री, वासौ तो हिंदुस्थान रो,
चोहटा भीड़ दिल्ली री, पुरष पंजाब रो,
सहिर तो लाहौर, दरवाजा अहमदाबाद रा,
देवल आबु रो, तमाखू सूरत री[२०९]

अपने वर्ग में विशिष्ट पदार्थों का उल्लेख करते हुए पक्षी में हंस, देशों में मगध,

२०४. वही, पृ० २३६।
२०५. सभाशृंगार, पृ० २५६।
२०६. वही, पृ० २५८–५६।
२०७. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, भूमिका, सभाशृंगार, पृ० ११।
२०८. वर्णकसमुच्चय, भा० १, परि० १, क्रयाणक वस्त्र आभरण नामावलि पृ० २१३–१४।
२०९. सभाशृंगार, पृ० २५६–६०।

रागों में पंचम तथा वस्त्रों में नेत्रवस्त्र की प्रशंसा की गई है।[२१०] वर्णरत्नाकरकार ने भी चौदह प्रकार के नेत्र का वर्णन किया है।[२११] 'भला क्या' सूची में अनेक भले उल्लेख मिलते हैं :

पाग खांगी (टेढ़ी) भली, केसर रंगी भली।
मौत मोड़ी भली, ममता थोड़ी भली।
जोबन जोड़ी भली, कछा (कच्छ) घोड़ी भली।
कांठल काली भली, सेफ (सेज) चित्रसाली भली।
कोरणी कोरी भली, नाव तरती भली, खिमा धरती भली।[२१२]

'कोरणी कोरी भली' का तात्पर्य यह है कि नक्काशी या उकेरी चारों ओर कोर या किनारे पर उकेरी हुई अच्छी समझनी चाहिए।[२१३]

'भला क्या' की दूसरी सूची में कुछ महत्वपूर्ण उक्तियाँ हैं :

नीसाण घोर का भला, चित्र मोर का भला, घोड़ा कुमेद भला, हस्ती माता भला।[२१४]

दसवें विभाग का आरंभ मांगलिक पदार्थों के वर्णन से होता है।[२१५] दधि, दूर्वा, कुसुम, अक्षत, चंदन, गोरोचना कुंकुम, पूर्णकलस, तोरण, चँवर, दीप, प्रवाल, वंदनवार, मणिमाला, देवपूजन और गुरुपूजन का राष्ट्र के सांस्कृतिक जीवन में बहुत बड़ा महत्व है। दूसरे वर्णक 'वर्द्धापनकं' में स्वर्णमय द्वीप, स्वर्णमय मूसल सुवर्णकलश, धवल घर, प्रसाद वैजयंती और 'तिलिया तोरण' का उल्लेख है।[२१६] इनमें तलियातोरण (सं० तलक-तोरण) का ऊपर स्वयंवर मंडप प्रकरण में उल्लेख हो चुका है।[२१७] पुत्रजन्म महोत्व का थोड़े में चित्र उपस्थित किया गया है।[२१८] धात्रियों की संख्या ५ बताई गई है।[२१९] दिव्यावदान आदि बौद्ध-

२१०. वही, पृ० २६० ।
२११. वर्णरत्नाकर, ए० सो० बं०, १६४०, पृ० २२ ।
२१२. सभाशृंगार, पृ० २६४–२६५ ।
२१३. डा० अग्रवाल, भूमिका, सभाशृंगार, पृ० ११ ।
२१४. सभाशृंगार, पृ० २६७ ।
२१५. वही, पृ० २८१ ।
२१६. वही, पृ० २८१ ।
२१७. वही, पृ० १६ ।
२१८. वही, पृ० २८१–८२ ।
२१९. वही, पृ० २८२ ।

संस्कृत ग्रंथों में अंकधात्री, क्षीरधात्री, क्रीड़ाधात्री और मलधात्री ये चार नाम आते हैं। सभाशृंगार में अंतिम के स्थान पर मज्जनधात्री और मंडनधात्री नाम आए हैं। पुत्रपालन के बाद बालक्रीड़ा वर्णन के मुख्य अभिप्राय सूरसागर के विशद वात्सल्य वर्णनों की संक्षिप्त सूची के समान हैं। विवाह समय नामक वर्णक[२२०] में 'लग्न' और 'कूटि' की चर्चा ज्योतिष का अपना विषय है। इस अवसर पर 'घड सई घृत विसाहियइ' का अर्थ है घड़े सहित घृत मोल लेना। आज भी मिथिला में घड़े आदि मिट्टी के पात्रों में भरकर घी को रखा जाता है। सुखासन का प्रयोग वर्णरत्नाकर[२२१] और पद्मावत[२२२] में भी है। 'घाघरवालि' से तात्पर्य बड़े और बजनेवाले घुँघरुओं की उस माला से है जो घोड़े, खच्चर आदि के गले में डाली जाती थी और जिसे गढ़वाल में आज भी घाँघरयालों कहते हैं। पंचशब्द का निर्घोष वर्णरत्नाकर के प्रभातवर्णन[२२३] और पदमावत[२२४] के अनुसार मांगलिक अवसरों का शुभ विधान है। भोजन के प्रसंग में रसवती (रसोई) के चार वर्णक संगृहीत हैं। भोजन मंडप, भोजन करनेवाले, परोसनेवाली स्त्री, भोज्य पदार्थ, शालि, शाक, पानी, भाजी, बड़ा, दही, तांबूल, घृत, धान्य, लड्डू और मेवे का उनतीस पृष्ठों में विशद वर्णन हुआ है।[२२५]

पकवानों में मालपुड़ा आधुनिक मालपुवा है। खाजा मिथिला की बहुत ही प्रसिद्ध मिठाई है। इसकी उपमा महल के छज्जे से दी गई है।[२२६] आज दूसरे प्रांतों में इसका चलन कम हो गया है किंतु मिथिला में तो फूले हुए बहुत बड़े खाजे बनाए जाते हैं और भोज में इनका अपना महत्व होता है। वर्णरत्नाकर में भी कई मिठाइयों की चर्चा है जिससे तेरहवीं-चौदहवी शती में भी इसका प्रचलन सिद्ध हो जाता है। भारतीय भोजन और पकवानों का इतिहास लिखने के लिये सभाशृंगार, वर्णकसमुच्चय और वर्णरत्नाकर की सूची बहुत ही सहायक सिद्ध

२२०. वही, पृ० २८३।
२२१. वर्णरत्नाकर, पृ० सो० ब०, पृ० ६३।
२२२. जायसी, पदमावत।
२२३. वर्णरत्नाकर, पृ० १४।
२२४. पदमावत।
२२५. सभाशृंगार, पृ० २८३-३१०।
२२६. मालपुडा, खाजा. तुरत कीधा ताजा।
सदका नइ खाजा, मोटा जाणे प्रसाद ना छाजा। —वही पृ० २८६।

हो सकती है। पारिहेटि महिसि[२२७] (बाखड़ी) भैंस की संज्ञा थी। इसे ज्योतिरीश्वर ने 'तेरिआमहिसि पाडी' कहा है[२२८] और हेमचंद्र ने 'परिहट्टी' कहा है[२२९]। फल-मेवों की दूसरी, तीसरी और चौथी सूची में बरसोला शब्द आया है। डा० अग्रवाल जी ने इसका परिचय एक प्रकार के खांड के लड्डू से कराया है जो पानी में डालते ही मिल जाता था। आज की भाषा में इसे बतासा कह सकते हैं। नैषधचरित में इसे वर्षोपल कहा है। यहाँ बिजौरा के साथ बरसोला का नाम आने से ज्ञात होता है कि नीबू की तरह के किसी फल के लिए भी यह शब्द चल पड़ा होगा।

सुगंधित वस्तुओं की सूची[२३०] में भोगरेल, चांपेल, जाचेल, केवडेल, करणेल, इन पाँच शब्दों में अंत का 'एल' प्रत्यय तैल वाचक है। ये शब्द भोगए, चंपा, जूही, केवड़ा और करना (एक प्रकार का श्वेत पुष्प) नामक फूलों से सुवासित तेलों के नाम थे। वस्त्रों के पाँच वर्णक[२३१] वर्णरत्नाकर, वर्णकसमुच्चय और आईन-ए-अकबरी की वस्त्रसूचियों से तुलनीय हैं। आभरण[२३२] और रत्नों[२३३] की भी पाँच-पाँच सूचियाँ महत्वपूर्ण हैं। परिशिष्ट रूप में जो रत्नकोष और राज-नीतिनिरूपण नामक दो संस्कृत ग्रंथ[२३४] मुद्रित हैं उनमें भी मध्यकालीन सामाजिक जीवन की बहुविधि सामग्री है।

७-आइन-ए अकबरी

विषय की व्यापकता की दृष्टि से 'आइन-ए-अकबरी'[२३५] वर्णरत्नाकर से बहुत कुछ मिलती-जुलती परवर्ती रचना है। प्रस्तुत ग्रंथ अकबरनामा का तृतीय भाग है। इसके रचयिता अबुलफज़ल ने अकबर के समकालीन भारत की पूरी रूपरेखा प्रस्तुत की है। भारतीय मुसलमान लेखकों के इतिहास ग्रंथों में यह सबसे बड़ा है।

२२७. पारिहेटि महिसिंह तण्ड दूधू (श्रेष्ठ भोजन प्रसंग में), वही, पृ० २८४।
२२८. ज्योतिरीश्वर, वर्णरत्नाकर, पृ० ६६।
२२९. हेमचंद्र, देशीनाममाला, ६।७२।
२३०. सभाशृंगार, पृ० ३११।
२३१. वही, पृ० ३११–१३।
२३२. वही, पृ० ३१४–१५।
२३३. वही, पृ० ३१६–१७।
२३४. वही, परि० पृ० १–२८।
२३५. आइन-ए-अकबरी, अबुल फजल, अनु० एच० ब्लाखमैन, संपा० फिलौट।

इस विशाल ग्रंथ के प्रथम भाग में तैमूर वंश, बाबर का राज्य, सूर राजाओं तथा हुमायूं का वर्णन है। दूसरे भाग में अकबर के ४६ वर्षों के राज्य का वर्णन है। अंतिम भाग आइन-ए-अकबरी में अकबर के राज्य की व्यवस्थाओं का चित्रण है। 'आइन' का अंग्रेजी अनुवाद श्री एच० ब्लाखमैन का उपलब्ध है। इसके प्रथम भाग में अकबर की आंतरिक शासनव्यवस्था वर्णित है। इसमें राजभवन, राजदरबारी आदि का वर्णन है। दूसरे भाग में विभिन्न पदाधिकारी (आफिसर्स), सिक्के, खाद्यान्न, फल-फूल, पेड़-पौधे, ग्रंथद्रव्य, वणिक द्रव्य रत्न, वस्त्र, ललित कलाएँ, शस्त्रास्त्र, हाथी-घोड़े के साथ शृंगार, अश्वशिक्षा आदि विषयों का वर्णन है। तीसरे भाग में न्याय, भूमिकरों की व्यवस्था बताई गई है। चौथे भाग में सामाजिक स्थिति, साहित्य, दर्शन, कानून, विदेशी आक्रमक, विदेशी यात्री और फकीरों की चर्चा है। पाँचवें भाग में सम्राट की नीति-ज्ञान-संबंधी सूक्तियाँ हैं। आइन-ए-अकबरी में मनोविनोद की सामग्री और शिकार का वर्णन तो बहुत अधिक वर्णरत्नाकर से मिलता है। इसकी रचना वर्णरत्नाकर के ढाई सौ वर्ष बाद हुई थी। अतएव वर्णरत्नाकर से अवश्य ही यह प्रभावित है।

८. अलंकारशेखर

परवर्ती काल में केशव मिश्र ने अलंकारशेखर[२३६] की रचना कवि को शिक्षा देने की दृष्टि से संस्कृत में की। उनका समय १६वीं शती का उत्तरार्द्ध है।[२३७] इन्होंने काव्यादर्श, काव्यमीमांसा, काव्यप्रकाश तथा कविकल्पलता आदि ग्रंथों से बहुत सी सामग्री अपने ग्रंथ में ली है।

अलंकारशेखर में आठ रत्न या अध्याय और २२ मरीचि हैं जिनके विषय इस प्रकार हैं काव्यस्वरूप, रीति, शब्दशक्ति, पद के आठ दोष, काव्य के अठारह दोष, अर्थ के आठ दोष, शब्द के पाँच गुण, अर्थ के चार गुण, शब्दालंकार, अर्थालंकार, रूपक के भेद, आदि विषयों के अनंतर नायक-नायिका भेद का निरूपण किया गया है। योषित वर्णन[२३८] नामक तेरहवीं मरीचि में स्त्री के अंगों के उपमान वर्णरत्नाकर से बहुत मिलते-जुलते हैं। ऐसे और भी कई प्रकरण वर्णरत्नाकर के विषयों से संपृक्त हैं। चौदहवीं मरीचि में पुरुष वर्णन है।[२३९]

२३६ केशव मिश्र, अलंकारशेखर, सं० शिवदत्त, काव्यमाला सं० ५०, १९२६ ई०।

२३७. पं० बलदेव उपाध्याय, भारतीय साहित्य, पृ० १३२।

२३८. अलंकारशेखर, पृ० ३४-४६।

२३९. वही, पृ० ४६-५२।

किस ऋतु में किस पदार्थ का वर्णन करना चाहिए, इस संबंध के नियम पंद्रहवीं मरीचि में बताए गए हैं।[२४०] सोलहवीं मरीचि में वर्णनीय विषयों का प्रतिपादन वर्णरत्नाकर के सदृश ही हुआ है, जैसे, देवी-देवता, देश, ग्राम, नगर, नदी, सरोवर, समुद्र, वन, उद्यान, शैल, प्रयाण, युद्ध, अश्व, गज, सूर्य, चंद्र, सुरभि, षड्ऋतु, विवाह, स्वयंवर, जलक्रीड़ा, सुरत, विरह, मृगया, आश्रम आदि।[२४१] सत्रहवीं मरीचि में श्वेत, नील, पीत, रक्त, धूसर आदि रंगों का वर्णन कवि-कल्पलता के समान ही हुआ है।[२४२] अठारहवीं मरीचि में संख्यासंबंधी कविसंप्रदाय और चित्रादि के प्रकार वर्णित हैं।[२४३] उन्नीसवीं में समस्यापूर्ति, बीसवीं में रस-निरूपण और इक्कीसवीं में रस-दोष निरूपण हुआ है।[२४४]

६.-कविप्रिया

कवियों की शिक्षा के लिये आचार्य केशवदास ने कविप्रिया[२४५] की रचना फागुन सुदी पंचमी बुधवार सं० १६५८ वि० को संपन्न की।[२४६] काव्यकल्पलता-वृत्ति की तरह रूढ़ उपमानों की बृहत् सामग्री इसमें एकत्र कर दी गई है। देश, नगर, वन, आश्रम आदि के वर्णन में किन-किन बातों का उल्लेख होना चाहिए उसका विशेष ध्यान रखा गया है। कविरीति या कविसमयों का तो यह भांडार ही है। केशव को कविता के प्रथम आचार्य का पद इस ग्रंथ की रचना के द्वारा प्रमुख रूप से प्राप्त है। वैसे तो केशव ने इसके पहले भी काव्यशास्त्र संबंधी एक और ग्रंथ 'रसिकप्रिया' की रचना संवत् १६४८ वि० में की थी,[२४७] परंतु विषय की विपुलता और उपयोगिता की दृष्टि से कविप्रिया श्रेष्ठ कृति है। शृंगार रस की

२४०. वही, पृ० ५२–५७।
२४१. अलंकारशेखर, पृ० ५७–६०।
२४२. वही, पृ० ६१–६२।
२४३. वही, पृ० ६२–६५।
२४४. वही, पृ० ६५–८१।
२४५. केशवग्रंथावली, खंड १, संपा० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, १९५४, पृ० ९४।
२४६. प्रगट पंचमी को भयो कविप्रिया - अवतार।
　　सोरह सै अट्ठावना फागुन सुदि बुधवार॥ ४॥
　　—प्रथम प्रभाव, कविप्रिया, वही पृ० ९४।
२४७. संवत सोरह सै बरष बीते अठताळीस।
　　कातिग सुदि तिथि सप्तमी बार बरनि रजनीस॥११॥
　　—प्रथम प्रकाश, रसिकप्रिया, केशवग्रंथावली, खंड १।

जानकारी और काव्यसौंदर्य के चमत्कार की दृष्टि से रसिकप्रिया महत्वपूर्ण है किंतु, कविशिक्षा के विविध तत्वों का सांगोपांग वर्णन कविप्रिया में है। कविप्रिया की रचना प्रमुख रूप से महाराज इंद्रजीत सिंह की स्नेहपात्री और केशव की शिष्या प्रवीणराय को काव्यशिक्षा देने के लिये हुई थी।[२४८] किंतु ग्रंथ की रचना के समय अन्य काव्यजिज्ञासुओं को भी काव्यशिक्षा देने की योजना केशवदासजी के मस्तिष्क में विद्यमान थी।[२४९]

कविप्रिया सोलह प्रभावों में विभक्त है। पहले प्रभाव में राजवंश तथा दरबारी नायिकाओं का वर्णन है।[२५०] दूसरे में कवि-वंश-वर्णन है।[२५१] तीसरे प्रभाव में काव्यदोष बतलाए गए हैं। चौथे प्रभाव में कविभेद, कविरीति और सोलह शृंगारों का वर्णन है।[२५२]

पाँचवें प्रभाव में वर्णालंकार के अंतर्गत कविपरंपरानुसार भिन्न-भिन्न रंग की वस्तुओं का परिचय कराया गया हैं।[२५३] यह प्रसंग देवेश्वर की कविकल्प-

कीरति, हरिहय, सरदधन, चौन्ह, जरा, मंदार।
हरि, हर, हरगिरि, सुर, ससि, सुधा, सौंध, घनसार॥ ५॥

बल, बक, हीरा, केवरो, कौंड़ी, करका, कास।
कुंद, काँचरी, कमल, हिम, सिकता, भस्म, कपास॥ ६॥

खांड, हाड, निर्झर, चँवर, नंदन, हंस, मुरार।
छत्र, सत्ययुग, दूध, दधि, संख, सिंध, उडुमार॥ ७॥

सेष, सुकृति, सुचि, सत्यगुन, संतनि के मन, हास।
सीपि, चून, मोडर, फटिक, खटिका, फेन, प्रकास॥ ८॥

२४८. वृषभवाहिनी अंग उर, बासुकि लसत प्रवीन।
सिव-संग सोहै सर्वदा, सिवा कि राय प्रवीन॥ ६०॥
सविता जू कविता दई, ताकहँ परम प्रकास।
ताके काज कविप्रिया, कीन्हीं केसवदास॥ ६१॥
—प्रथम प्रभाव, कविप्रिया, वही, पृ० ६८–६९।

२४९. प्रारंभिक दोहे, तृतीय प्रभाव, कविप्रिया, वही, पृ० १०१।

२५०. कविप्रिया, वही, पृ० ६४–६६।

२५१. वही, पृ० ६६–१०१।

२५२. वही, १०८–११।

२५३. कविप्रिया, वही, पंचम प्रभाव, पृ० ११२–१७।

लता[२५४] और केशव मिश्र के अलंकारशेखर[२५५] के सदृश ही है। उदाहरणस्वरूप केशव के श्वेत वर्णन की तुलना कविकल्पलता, अलंकारशेखर से करके देखने से यह स्पष्ट हो जायेगा।

सुक, सुदर्शन, सुरसरित, बारन बाजि समेत।
नारद, पारद, अमलजल, सारदादि सब सेत ॥ ६ ॥[२५६]

श्वेतानि (?) चन्द्राशङ्काश्वशंभुनारदभार्गवाः।
हली शेषहिशक्रेभौ सिंहसौधशरद्घनाः ॥
सूर्येन्दुकान्तनिर्मोकमन्दारदुहिमाद्रयः।
हिमहास मृणालानि स्वर्गङ्गेभरदाभ्रकम्।
सिकतामृतलोध्राणि गुणाकैरवशर्कराः ॥[२५७]

कुमुद, कुंद, कदंब, कास, भास, कैलास, कर्पूर, पीयूषक कांति, प्रसारी सन, क्षीरसमुद्रक दक्षिणानिले चालल तरंग, सनक लहरी अइसन, अमृतक सरोवर तरंगक सहोदर सन, शरतक पूर्णिमा चाँदक ज्योत्सना अइसन अभिनव प्रकाशित कमलकोष प्रसारि शोभा सन, कंदर्पक दर्प प्रकासन सन।[२५८]

'सुधांशूच्चैःश्रवः शम्भुकीर्त्तिज्योत्स्ना शरद्घनाः।
प्रासादसौधतगरमन्दार द्रु हिमाद्रयः ॥ १ ॥
सूर्येन्दुकान्त कर्पूरकरम्भा रजतं हली।
निर्मोक भस्महिण्डोर चन्दनं करका हिमम् ॥ २ ॥
हारोर्णनाभतन्त्वस्थितस्वर्गण्डेभरदाभ्रकम्।
शेषाहिः शर्करा दुग्धं दधिगंगा सुधाजलम् ॥ ३ ॥
मृणालसिकता हंसबक कैरव चामरम्।
रम्भागर्भः पुण्डरीकं केतकी शंख निर्झराः ॥ ४ ॥
लोध्रसिंह ध्वजच्छत्र चूर्णं शुक्तिकपर्दकाः।
मुक्ता कुसुम नक्षत्र दन्त पुण्ययोशनो गुणाः ॥ ५ ॥

२५४. देवेश्वर, कविकल्पलता, ए० सो० बं०, १६१३, पृ० ५६–६४।
२५५. अलंकारशेखर, पृ० ६१–६२।
२५६. कविप्रिया, केशवग्रंथावली, पृ० ११२।
२५७. अलंकारशेखर, पृ० ६१।
२५८. वर्णरत्नाकर, पृ० ७।

कैलास काश कार्पास हास वासव कुञ्जराः ।
नारदः पारदः कुन्दः खटिका स्फटिकादयः ॥ ६ ॥[२५९]

छठे प्रभाव में भिन्न भिन्न आकृति और गुणवाली वस्तुओं की सूची है।[२६०] सातवें प्रभाव में भूमि-श्री-वर्णन अर्थात् भूतल के प्राकृत दृश्यों और वस्तुओं के वर्णन की विधि बतलाई है।[२६१] इसके कई प्रसंग वर्णरत्नाकर से तुलनीय हैं जैसे नगरवर्णन, गिरिवर्णन, आश्रमवर्णन, सरितावर्णन, बागवर्णन, तालवर्णन, समुद्र-वर्णन, सूर्योदय-वर्णन, चंद्रोदयवर्णन, वसंतवर्णन, ग्रीष्म-ऋतु वर्णन, वर्षा-ऋतुवर्णन, शरद-ऋतु-वर्णन, हेमंत-ऋतु-वर्णन और शिशिर-ऋतु-वर्णन। 'राज्यश्री भूषण वर्णन'[२६२] नामक आठवें प्रभाव के राजावर्णन, रानीवर्णन, राजकुमारवर्णन, सेनापतिवर्णन, दूतवर्णन, मंत्रीवर्णन, गजवर्णन, संग्रामवर्णन आखेटवर्णन, जलकेलिवर्णन, सुरतिवर्णन आदि प्रसंग वर्णरत्नाकर के विषयों से तुलनीय हैं। नवें से पंद्रहवें प्रभाव तक काव्यालंकारों तथा उनके भेदोपभेद का तथा सोलहवें प्रभाव में चित्रालंकार का वर्णन है।[२६३] प्रत्येक प्रभाव में दोहों में लक्षण देकर प्रायः कवित्त या सवैया में उदाहरण दिए गए हैं। कतिपय उदाहरण काव्य की दृष्टि से बहुत सुंदर है।

सुजानचरित्र

सूदन कवि कृत सुजान चरित्र[२६४] मध्यकालीन वर्णक ग्रंथों की अंतिम कड़ी है। बदनसिंह के बेटे सूरजमल्ल उपनाम सुजान सिंह थे जिनका चरित्र ग्रंथ में वर्णित है। जाट नरेश सुजानसिंह अत्यधिक पराक्रमी थे। आप सन् १७६४ में शाहदरा में मुगलों के हाथ मारे गए और उनके बड़े बेटे जवाहर सिंह राजा हुए। वृत्तांत अधूरा ही है। किंतु, प्रस्तुत ग्रंथ में जाट के आश्रयी कवि ने अपने समय (१७०७ ई०) के प्रचलित अस्त्र शस्त्र, कपड़े, गहने, बरतन, पशु-पक्षी, वाहन, मेवे, फल आदि पदार्थों के प्रभूत नाम गिनाए हैं। संपूर्ण ग्रंथ सात

२५९. कविकल्पलता, पृ० ५९–६०।
२६०. कविप्रिया, केशवग्रंथावली, पृ० ११८–३१।
२६१. वही, पृ० १३१–३८।
२६२. कविप्रिया, केशवग्रंथावली, पृ० १३९–१४७।
२६३. वही, पृ० १४८–२२८।
२६४. सूदनकृत सुजानचरित्र, संपा० श्रीराधाकृष्णदास, ना० प्र० सभा, १९०२ ई०।

खंडों में विभक्त है तथा विविध छंदों में लिखित है। प्रत्येक अंग कतिपय अंकों में विभाजित है। षष्ठ अंग में सूदनमल द्वारा मुगलों के सामानों के लूटे जाने की लंबी सूची है। इसमें वर्णरत्नाकर से तुलनीय एक प्रसंग का उल्लेख यहाँ प्रस्तुत है। अस्त्र-शस्त्रों का वर्णन—

तुपक तीर तरवार तमंचा नेगा तीछन
तोमर तबला तुफंग दाव लुहियो तिही छन
पट्टा पट्टी परस पासि बिछुवा वर बाँके
बल्लम बरछा बरछि धनुष लिय लूटि निसाँ के
गुगदा गुपती गुरज डाढ़ जमकील कतारी
सूल अंकुसा छुरी सुभारी तिष्ष कुठारी
सिप्पर सिरी सनाह सहसमेखी दस्तानें
झिलम टोप जंजीर जिरह लुहिय मस्तानें
पक्खर गक्खर लक्ख राग यागेरु निषंगा
आयुध और अनेक और चिलतह बहु अंगा।[२६५]

इसके पश्चात् बरतन, बाजे, गहनों तथा खेमों की सूचियाँ[२६६] वर्णकपद्धति से उल्लिखित हैं जो वर्णरत्नाकर से मिलती जुलती भी हैं। इस प्रकार हम वर्णक ग्रंथों की एक महती परंपरा पाते हैं जिससे हिंदी का काव्यसाहित्य बहुत अधिक प्रभावित है।

*

२६५. वही, पृ० १५७।
२६६. वही, पृ० १५८—५६।

शब्दाकलन के सिद्धांत तथा कामायनी का शब्दभंडार

जगदीशप्रसाद कौशिक

•

कामायनी महाकाव्य हिंदी साहित्य में ही नहीं अपितु विश्व के श्रेष्ठतम काव्यों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। फलस्वरूप विश्व की शैक्षणिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक विषयों की संस्था ने विश्व की प्रमुख भाषाओं में इसे अनूदित करने का निश्चय किया। अद्यावधि कामायनी के विभिन्न पक्षों को लेकर हिंदी के गण्यमान्य विद्वान् आलोचकों ने अपने तत्संबंधी विचारों की सुस्पष्ट अभिव्यक्तियाँ की हैं। किसी ने इसके सांस्कृतिक पक्ष की विवेचना की है तो किसी ने उसमें से साहित्यिक मुक्ताओं का चयन कर रसज्ञ पाठकों के मानस का परिष्करण किया है। किसी ने उसके ऐतिहासिक एवं पौराणिक स्वरूप का उद्घाटन किया है तो किसी ने उसकी दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की है। ऐसी स्थिति में स्वभावतः यह जानने की जिज्ञासा हुई कि इस काव्य की समस्त शब्दसंपत्ति कितनी होगी। इस जिज्ञासा की शांति के हेतु कामायनी शब्दाकलन-परियोजना का श्रीगणेश हुआ। किंतु कार्य की अन्विति पर्याप्त दुरूह प्रतीत हुई। यथा, शब्दों की गणना का आधार क्या हो ? कहाँ किसे शब्द मानें और किसे नहीं ? स्वरूप की दृष्टि से किंचित् मात्र भी अंतर आते ही क्या उस शब्द को मूल शब्द से भिन्न माना जाय ? शब्द के स्वरूप मात्र को दृष्टि में रखा जाय अथवा अर्थतत्व को महत्ता दी जाय ? सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि हमारे सामने कोई आदर्श न था। हिंदी साहित्य में अब तक इस प्रकार का कोई प्रयास नहीं हुआ है। आंग्ल भाषा में साहित्य के इस प्रकार के विवेचन को भी प्रोत्साहन दिया गया है किंतु अथक प्रयास के पश्चात् भी इस प्रकार की कोई कृति हमें उपलब्ध न हो सकी। अतएव विवश होकर हमने इस कार्य में स्वयं यह प्रयत्न किया जिसका परिणाम यहाँ प्रस्तुत है।

'शब्दाकलन' शब्द दो पदों का संघात है जिसका अर्थ है शब्दों की गणना। शब्दों की गणना का क्या महत्व है, यह एक भिन्न विषय है। यहाँ पर केवल इसी बात पर विचार करना है कि शब्दों की गणना किन सिद्धांतों के आधार पर की जाय। इससे पूर्व कि हम किसी प्रकार के सिद्धांतों की स्थापना करें यह आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है कि हम शब्द के स्वरूप को भली प्रकार हृदयंगम कर लें। शब्द की परिभाषा विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से की है किंतु इस बुद्धि-

वादी युग में किसी एक निष्कर्षपूर्ण निर्णय पर पहुँचना सरल कार्य नहीं है। फिर भी विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रदत्त परिभाषाओं का आकलन कर किसी एक मान्यता पर पहुँचने का प्रयत्न उचित होगा।

व्याकरणशास्त्र के प्रथम महान् आचार्य पाणिनि ने अपने लोकविश्रुत ग्रंथ अष्टाध्यायी में पद शब्द की परिभाषा देते हुए लिखा है—**सुप्तिङन्तं पदम्** अर्थात् जिन शब्दों के साथ सुबंत और तिङंत विभक्तियों को जोड़ दिया जाता है तब उनकी पद संज्ञा हो जाती है। निश्चय ही पाणिनि जब पद शब्द की परिभाषा प्रस्तुत कर रहे थे तब उनके मस्तिष्क में शब्द की रूपरेखा भी रही होगी। अष्टाध्यायी में शब्द के मूल रूप की विवेचना का प्रयास तो नहीं किया है किंतु उसके एक अंग प्रातिपदिक को स्पष्ट करते हुए पाणिनि ने एक सूत्र लिखा है—**अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदकम्** अर्थात् प्रातिपदिक वह होता है जो अर्थवान हो तथा धातु और प्रत्यय न हो। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि पाणिनि शब्द की अर्थवत्ता को मानकर चले हैं। शब्द की परिभाषा को अधिक स्पष्ट करते हुए संस्कृत साहित्य के आचार्य श्री विश्वनाथ ने लिखा है **वर्णाः पदं प्रयोगार्हानन्वितैकार्थबोधकाः**, अर्थात् पद वे वर्ण हैं जो प्रयोग योग्य हुआ करते हैं, और किसी एक अनन्वित (किसी दूसरे पद के अर्थ से जिसका संबंध न हो, ऐसे) अर्थ के बोधक हुआ करते हैं।[1] शब्दविवेचन का कार्य प्रारंभ करने से पूर्व यह स्पष्ट कर देना उपयुक्त होगा कि जहां संस्कृत भाषा में जिन कारणों को लेकर शब्द और पद में भिन्नता मानी जाती रही है वहां हिंदी में उन कारणों को लेकर शब्द और पद में भिन्नता का अभाव होने के कारण इस प्रकार का कोई अंतर नहीं माना जाता। संस्कृत एक संश्लिष्ट भाषा होने के कारण उस पर सुबंतों-तिङंतों के योग का नियम लागू होता है किंतु हिंदी जो एक विश्लिष्ट भाषा है उसके शब्दों के लिये इस प्रकार की किसी संज्ञा के अभिधान की आवश्यकता नहीं है। प्रस्तुत लेख में भी इस प्रकार के किसी अंतर की मान्यता नहीं है। अतएव संस्कृत में की गई पद शब्द की व्याख्या को, यदि कोई विशेष पारिभाषिक व्यवधान न हुआ तो उसे, शब्द की ही परिभाषा माना जायगा। पं० किशोरीदास वाजपेयी ने इस विचारधारा का सम्यक् स्पष्टीकरण किया है—'संस्कृत जैसा प्रातिपदिक हिंदी में नहीं है। कारण यह कि यहाँ विभक्ति प्रयोग की अनिवार्यता नहीं है। यहाँ अर्थ संकेतित शब्द ही पद है, यदि वाक्य का अंश है। चाहे उसमें कोई विभक्ति हो, या न हो विभक्ति की अनिवार्यता नहीं। यदि विभक्ति बिना काम चल जाये तो फिर उसे

१. साहित्यदर्पण-डा० सत्यव्रतसिंह, पृ० ३८।

अजागलस्तन की भांति लटकाने अटकाने की क्या जरूरत है। अर्थश्चेदवगतः किं शब्देन ? अर्थ निकल गया तो फिर उसके लिये व्यर्थ शब्द प्रयोग किस काम का ? संस्कृत की इस पद्धति से हिंदी कुछ आगे बढ़ी, यहां यह सिद्धांत है कि विभक्ति के बिना ही यदि कारक ज्ञान हो जाये तो फिर उसका प्रयोग क्यों किया जाये ?'[२] उक्त संदर्भ के आधार पर शब्द की परिभाषा इस प्रकार निश्चित की जा सकती— अर्थ संकेतित शब्द ही पद है, यदि वाक्य का अंश हो। डा० बाबूराम सक्सेना ने शब्दविज्ञान का विवेचन करते हुए शब्द की परिभाषा इस प्रकार दी है—'जब ध्वनि के किसी समूह में व्याकरण के प्रयोग के अनुसार अर्थ के बोध कराने की शक्ति होती है, तब उसे शब्द की संज्ञा देते हैं।'[3] डा० भोलानाथ तिवारी ने शब्द की परिभाषा के काठिन्य को ध्यान में रखते हुए तथा अनेक गण्यमान्य भाषाविदों के उदाहरण देते हुए अपने विचार कुछ इस प्रकार उपस्थित किए हैं— 'संसार की सभी भाषाओं को दृष्टि में रखते हुए शब्द की सभी दृष्टियों से पूर्ण परिभाषा देना असंभव सा है। इस विषय पर विचार करते हुए जेस्पर्सन, वैन्द्रियों डेनियल जोंस तथा उल्डल आदि भाषाविज्ञान के अनेक दिग्गजों ने इस बात को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। फिर भी शब्द की काम चलाऊ परिभाषा कुछ इस प्रकार दी जा सकती है—शब्द अर्थ के स्तर पर भाषा की लघुतम स्वतंत्र इकाई है।'[४]

उपर्युक्त परिभाषाओं का यदि पृथक पृथक विवेचन करके देखें तो किसी भी परिभाषा को स्वयं में पूर्ण नहीं कहा जा सकता। यथा, डा० सक्सेना ने ध्वनिसमूह को शब्द माना है जब कि एक ध्वनि के शब्द भी भाषाओं में उपलब्ध होते हैं। जैसे, हो गये अलोप राम औ सीता (अवधी), ओ चिंता की पहली रेखा (हिंदी)। इसी प्रकार डा० तिवारी ने शब्द की प्रयोगार्हता को अपनी परिभाषा में संनिविष्ट नहीं किया। फिर भी उपर्युक्त परिभाषाओं के परिवेश में कतिपय निष्कर्षों पर पहुँचकर उनके आधार पर हम अपनी मान्यताएँ निश्चित कर सकते हैं। शब्द के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये अधोलिखित तीन विशेषताएँ प्रस्तुत की जा सकती हैं—१. शब्द में कोई न कोई अर्थ निहित होता है, २. शब्द के किसी एक अर्थ की निष्पत्ति उसके वाक्य में प्रयुक्त होने पर ही होती है, ३. अर्थ की दृष्टि से वह भाषा की लघुतम इकाई है। अंतिम निर्णय को विशेष

२. हिंदी शब्दानुशासन, पृ० ११६–२०।
३. भाषाविज्ञान, पृ० ७८।
४. भाषाविज्ञान, पृ० ४२८।

रूप से स्पष्ट करने के लिये डा० तिवारी ने और दो महत्वपूर्ण निष्कर्षों की ओर संकेत किया है—१. यह ध्वनि के स्तर की लघुतम इकाई नहीं है क्योंकि इसमें एक ध्वनि भी हो सकती है और अधिक भी। २. यह इकाई स्वतंत्र है। इसे प्रयोग या अर्थ व्यक्त करने में किसी और की सहायता अपेक्षित नहीं होती है। 'अ' उपसर्ग अर्थ के स्तर पर लघुतम इकाई (=नहीं) है और 'ता' प्रत्यय भी (भाववाचकता)। किंतु ये शब्द नहीं माने जा सकते, क्योंकि अर्थ की लघुतम इकाई होते हुए भी, इनका प्रयोग अकेले नहीं हो सकता। इनके अर्थ की सार्थकता किसी के साथ होने में है और उसी रूप में ये प्रयोग में आ सकते। इस प्रकार ये परतंत्र हैं। इनके विरुद्ध 'पूर्ण' एक है और स्वतंत्र (वह पूर्ण है) भी।'[५]

शब्द के उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हमने दो प्रधान मान्यताएं स्थापित कीं—प्रथम यह कि आकलन करते समय शब्द के अर्थतत्व पर दृष्टि रखी जाय। कहने का तात्पर्य यह है कि जहां कहीं दो शब्दों में अर्थ की दृष्टि से कोई अंतर गोचर न हो केवल प्रायोगिक कारणों से ही उनके रूप में अंतर आ गया हो, वहां दोनों शब्दों को एक ही माना जाय। द्वितीय आधार हो शब्द की वाक्य में स्थिति और उसके विभिन्न रूप। विषय की सुस्पष्टता के लिये उपर्युक्त मान्यताओं का विस्तार से विश्लेषण करने का प्रयत्न करेंगे।

जहां तक प्रथम मान्यता का संबंध है, इसका प्रयोग सर्वत्र आद्योपांत रहेगा। कहने का तात्पर्य यह कि किसी भी ऐसे शब्द को जिसका कोई अर्थ न हो, गणना में स्थान नहीं दिया जायगा।

द्वितीय मान्यता के अधीन सर्वप्रथम हम शब्द की वाक्य में स्थिति पर विचार विमर्श करेंगे। जैसा कि आचार्य विश्वनाथ ने कहा है कि शब्द में प्रयुक्त होने का सामर्थ्य होना चाहिए। अतएव वाक्य का अध्ययन आवश्यक हुआ। वाक्य का अध्ययन करने पर हमारा परिचय दो प्रकार के शब्दों के साथ होता है. एक वे शब्द जो अर्थ को व्यक्त करते हैं और दूसरे वे जो व्यक्त अर्थों का परस्पर संबंध स्थापित करते हैं और एक पूर्ण विचार की अभिव्यक्ति में सहायक सिद्ध होते हैं। विद्वानों ने प्रथम को अर्थतत्व और द्वितीय को संबंधतत्व के नाम से अभिहित किया है।

उपर्युक्त सिद्धांत को ध्यान में रखते हुए हमने यह मान्यता स्थापित की कि यदि संबंध के तत्व के कारण शब्द के रूप में कोई अंतर आ भी गया तो भी

५. भाषाविज्ञान, पृ० ४२८।

हम उसे मूल शब्द से भिन्न नहीं मानेंगे। उदाहरणार्थ, राम ने रावण को मारा वाक्य में मारना क्रिया के रूप में जो विकार हो रहा है, वह संबंधतत्व के समाविष्ट हो जाने से ही दिखाई देता है। अतः यदि एक बार मारना क्रिया की गणना हो चुकी तो मारा क्रिया को स्वरूप भिन्न होने पर भी न गिना जायगा। इस प्रकार धातु में ही नहीं, जहां कहीं प्रातिपादिक में भी यदि ऐसा कोई स्वरूपपरिवर्तन संबंधतत्व के कारण देखा गया, वहां भी उपर्युक्त मान्यता को ही ग्रहण किया गया।

इतना होने पर भी एक क्लिष्ट प्रश्न यह था कि संबंधतत्व के कारण आए विकारवाले शब्दों को तो आपने मूल शब्द से भिन्न नहीं माना, परंतु स्वयं संबंधतत्व को यदि वह भिन्न शब्द के द्वारा कथित है तो, कवि के शब्दज्ञान में स्थान दिया जाय अथवा नहीं ? इस प्रश्न के कुछ अंश बड़े ही विवादास्पद हैं, अतः इसके लिये आवश्यक है कि हम संबंधतत्व को भली प्रकार समझ लें। भाषावैज्ञानिकों ने संबंधतत्व के अंतर्गत प्रायः कृदंत, तद्धित, णिजंत सकर्मक क्रियाओं आदि को भी गिनाया है। समझ में नहीं आता कि ये प्रत्यय किस प्रकार वाक्य में एक अर्थतत्व को दूसरे अर्थतत्व के साथ मिलाते हैं जब कि संबंधतत्व की महत्ता वाक्य में प्रयुक्त दो अर्थतत्वों के संबंध को व्यक्त करने में निहित है, जैसा कि विद्वानों द्वारा प्रदत्त परिभाषा में लक्षित होता है—'अर्थतत्व से अभिप्राय भाषा के उन अंशों से है जो अर्थ अथवा विचार का उद्‌बोध कराते हैं। संबंधतत्व का अभिप्राय भाषा के उन अंशों से है जो अर्थतत्व द्वारा व्यक्त किए गए विचारों के परस्पर संबंध की सूचना देते हैं।'[६] वाक्य में दो तत्व (संबंध और अर्थ) होते हैं। दोनों में भी प्रधान अर्थतत्व है। दूसरे को संबंधतत्व कहते हैं। संबंधतत्व का कार्य है विभिन्न अर्थतत्वों का आपस में संबंध दिखला देना।[७] इस प्रकार यदि हम विश्लेषण का भी विश्लेषण करेंगे तो फिर हमें पाणिनि की पुरानी प्रणाली पर जाना पड़ेगा और अंत में सभी शब्दों की केवल धातु मात्र शेष रह जायगी जो इस प्रकार के गणनाकार्य के लिये उपयुक्त नहीं। मैं जहाँ तक समझता हूँ वाक्य में संबंधतत्व के अंतर्गत सुबंतों और तिङंतों को ही लिया जाना चाहिए। कारण स्पष्ट है क्योंकि संबंधतत्व अपना कर्तृत्व वाक्य में प्रयुक्त होकर ही प्रकट करता है। यदि संस्कृत के आधार पर देखें तो जैसे—रामः करोति में 'सु' और 'ति' प्रत्यय अर्थतत्व के साथ एकाकार होकर राम और कृ धातु का संबंध आपस में स्थापित कर रहे हैं।

६. सामान्य भाषा विज्ञान 'पृ० ७४।
७. भाषाविज्ञान 'पृ० २२४।

इसी प्रकार **रामः कारयति** वाक्य में भी दोनों प्रत्यय वर्तमान हैं और वे ही संबंध को व्यक्त कर रहे हैं न कि णिच् प्रत्यय। यहां पर णिच् प्रत्यय कृ धातु के साथ मिलकर अपने नवीन रूप में वाक्य में प्रयुक्त होने के लिये उपस्थित हुआ है और इस रूप ने भी ठीक उसी प्रकार तिङंत प्रत्यय का आश्रय लिया है जिस प्रकार कृ धातु ने लिया था। यहाँ मान्यता यह है कि पूर्वकथित प्रत्ययों को वाक्य के संदर्भ में संबंधतत्व नहीं माना जाना चाहिए। हां, यदि इसे संबंधतत्व माना जाना आवश्यक ही है तो इन्हें शब्द के संदर्भ में माना जा सकता है। इस प्रकार यदि हम इनको संबंधतत्व मानकर चेलेंगे तो पूर्व निर्धारित मान्यता को संशोधित रूप में इस प्रकार रखा जायगा —सुबंतों और तिङन्तों के कारण विकार को प्राप्त शब्दों को मूल से अभिन्न मानते हुए भी कृदंत, तद्धित, णिजंत, सकर्मकादि प्रत्ययों के कारण विकार को प्राप्त हुए शब्दों को हम मूल से भिन्न मानकर चलेंगे। एक स्थान पर डा० तिवारी ने लिखा है कि भाषा में संबंधतत्व द्वारा प्रमुखतः काल-लिंग-वचन-पुरुष-कारक आदि की अभिव्यक्ति होती है। यहाँ पर भी लिंग-वचन-पुरुष वाक्य में प्रयुक्त दो अर्थतत्वों का संबंध प्रदर्शित नहीं करते। अतः इन्हें भी संबंधतत्व नहीं माना जा सकता। उदाहरण के लिये इसे यों कह सकते हैं— **मामी ने पुकारा** वाक्य में 'पुकारा' अर्थतत्व के साथ मामी अर्थ का संबंध 'ने' के द्वारा प्रकट किया जा रहा है न कि मामी शब्द में वर्तमान स्त्रीवाची प्रत्यय के द्वारा इसी प्रकार वचन और पुरुष को भी समझा जा सकता है।

उपर्युक्त समस्त आकलन के पश्चात् हम इस निर्णय पर पहुँचे कि उन सभी संबंधतत्वों को जो शब्द रूप में प्रयुक्त होते हैं (कारक शब्दों को छोड़कर) गणना में स्थान दिया जाय किंतु इसके कारण विकार को प्राप्त हुए शब्दों को मूल से भिन्न न माना जाय। उपरि कथित संशोधन को दृष्टिगत रखते हुए अब हमारे सामने केवल कारक शब्दों का प्रश्न शेष रह जाता है। कारक शब्दों के संबंध में विद्वानों का बड़ा मतभेद है। कुछ विद्वान् यह मानकर चलते हैं कि विभक्तियाँ मूल शब्द का ही एक अंग हैं, उन्हें उससे भिन्न नहीं माना जा सकता। उदाहरण के लिये **राम ने रावण को बाण से मारा** वाक्य में ने और से का क्रमशः राम, रावण और बाण शब्दों से भिन्न अस्तित्व नहीं है। अतः इन्हें मूल से हटाकर नहीं लिखना चाहिए। इसके लिये इन महानुभावों का यह तर्क है कि भाषा में एक प्रकार की सुसंगति होनी चाहिए। यह नहीं कि कहीं किसी प्रकार के नियम का पालन किया जा रहा है और कहीं किसी अन्य नियम का। उदाहरण स्वरूप इनका कहना है कि यदि आप विभक्ति प्रत्ययों को शब्द से भिन्न मानते हैं तो तुम्हें शब्द को 'तुम्+हें' लिखना चाहिए तथा इसी प्रकार 'तुम्हारे' शब्द को 'तुम्+हारे'। जब सर्वनाम शब्द विभक्ति संयुत लिखे जाते हैं तब अन्य शब्दों ने

आपका क्या बिगाड़ा है कि आप उनके संपूर्ण शरीर के किसी एक अवयव को काटकर पृथक रखना चाहते हैं। ठीक इसके विपरीत विद्वानों का दूसरा वर्ग है जो यह मान कर चलता है कि हिंदी भाषा एक अयोगात्मक भाषा है जिसकी यह पहचान होती है कि उसके कारक - प्रत्यय मूल शब्द से भिन्न होकर चलते हैं। दूसरी बात यह है कि इनका मूल उत्स कोई प्रत्यय नहीं है, बल्कि ये किसी पुरातन अर्थतत्व के घिसे हुए रूप है, जो अब अपनी अर्थद्योतन की शक्ति खो चुके हैं और केवल संबंधतत्व मात्र शेष रह गए हैं। इसी लिये इन विद्वानों ने हिंदी भाषा के इन विभक्ति प्रत्ययों को परसर्ग की उपाधि दी है तथा इनका स्वतंत्र अस्तित्व माना है। अब हमारे सामने कठिनाई थी कि हम क्या मानें ? एक गएयमान्य विद्वान् ने सुझाया कि इस साधारण सी बात पर इतना विचारविमर्श करने की क्या आवश्यकता है। हिंदी भाषा में मुश्किल से ८-९ विभक्तियां हैं, यदि गिन लें तो उसमें कोई अंतर नहीं आएगा और यदि नहीं भी गिनें तो कवि के कोश में कोई घाटा नहीं पड़ेगा। किंतु यह बड़ा ही स्थूल सुझाव था। यदि उक्त सुझाव के पूर्वार्ध का मानकर चलते हैं तो कवि की समस्त संपत्ति बहुत थोड़े में सीमित होकर रह जायगी, क्योंकि सिद्धांत में थोड़ी सी भी ढील देने से प्रस्तुत कठिनाई के अतिरिक्त अन्य बहुत सी कठिनाइयाँ सामने आ उपस्थित होंगी। यदि इसके उत्तरार्ध को लेकर चलते हैं तो कवि के शब्दभंडार में अनावश्यक वृद्धि हो जायगी और हम जिस विशुद्ध निष्कर्ष पर पहुँचना चाहते हैं नहीं पहुँच सकेंगे। अतएव अत्यंत विचार विनिमय के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचा गया कि यतः कामायनी एक साहित्यिक ग्रंथ है, जिसमें अर्थ की प्रधानता सर्वमान्य है, अतः जो शब्द केवल संबंध मात्र को व्यक्त करते हैं तथा विवादास्पद हैं, उन्हें ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं। फिर भी हमारा यह प्रारंभिक कार्य है, अतः इन शब्दों को अंत में परिशिष्ट रूप में जोड़ दिया जाय। जो विद्वान् इन्हें भिन्न मानने के कट्टर पक्षपाती होंगे वे निश्चित गणना में इन्हें मिलाकर संतोष लाभ कर सकेंगे।

द्वितीय मान्यता का दूसरा अंग व्युत्पत्ति है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से शब्द को तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है—१. रूढ़, २. यौगिक, ३. योगरूढ़। जहाँ तक रूढ़ शब्दों का संबंध है, वहाँ तक तो कोई कठिनाई नहीं, क्योंकि वह अपने में पूर्ण होते हैं तथा उनका खंड करने पर तितली के परों की भाँति बिखर किसी भी प्रकार के अर्थ व्यक्त करने की क्षमता उनमें नहीं रह जाती है। अतएव रूढ़ शब्द अपने आप में पूर्ण तथा एक स्वतंत्र इकाई होने के कारण सरलता से एक शब्द की श्रेणी में आ जाते हैं। हमने भी इन्हें एक ही गिना है, यथा—मन, मनु, संध्या, रात्रि इत्यादि। किंतु यौगिक शब्दों का निर्माण जैसा कि नाम से सिद्ध है, दो शब्दों के योग से होता है। अतः इन्हें दो शब्द गिना जाय अथवा एक, यह

समस्या हमारे सामने थी। क्योंकि जहाँ तक शब्दज्ञान का प्रश्न है कवि को उन दो शब्दों का ज्ञान है, अतएव उसके कोश में दो शब्दों की अभिवृद्धि दिखानी चाहिए, किंतु अर्थ की दृष्टि से उक्त दोनों शब्द मिलकर एक ही भाव की अभिव्यक्ति करते हैं, इस दृष्टिकोण से उसे एक ही शब्द गिना जाना चाहिए, जैसा कि परियोजना के नाम से व्यंजित होता है कि यह शब्दों का आकलन है, तो फिर निश्चय ही ये दो भिन्न शब्द माने जाने चाहिए, किंतु इसी लिये हमने शब्द की परिभाषा में स्पष्ट कर दिया है कि शब्द की महत्ता उसके अर्थ पर निर्भर करती है, अतएव इस दृष्टिकोण से हमें इसे एक शब्द मानना चाहिए। पर्याप्त विचार विमर्श के पश्चात् हमने सैद्धांतिक पक्ष को ही ग्रहण किया और यौगिक शब्दों को एक ही मानकर चले। कामायनी में इस प्रकार के शब्दों का पर्याप्त मात्रा में प्रयोग हुआ है, यथा—जल-निधि, यह दो शब्दों का संघात है, किंतु दोनों मिलकर एक ही अर्थ, सागर का द्योतन कराते हैं। अतः यह एक ही शब्द गिना गया। किंतु इस मान्यता की गहराई में जाते हैं तो एक सैद्धांतिक कठिनाई उपस्थित होती है। वह यह कि जल-निधि एक समास शब्द है, अतः सभी समस्त शब्दों को एक ही मानकर चलना चाहिए अन्यथा मान्यता में अतिव्याप्ति दोष आ जायगा। तर्कशास्त्र में सिद्धांत निर्णय के बाधक दो दोष माने गए हैं—१. अव्याप्ति दोष, २. अतिव्याप्ति दोष। इन्हें क्रमशः यों स्पष्ट किया जा सकता है कि जो सिद्धांत जिस कार्य अथवा विधा विशेष के लिये निर्धारित किया गया है, वह उसी प्रकार के अन्य कार्य एवं विधा विशेषों में भी समान रूप से लागू होना चाहिए। यदि वैसा नहीं होता है, तो उसमें अव्याप्ति दोष आ जायगा। जैसे कोई कहे कि पर्वत हिमाच्छादित होते हैं, इसे सिद्धांत मानकर यदि राजस्थान के पहाड़ों का भ्रमण किया जाय तो वहाँ बर्फ नहीं मिलेगी। अतएव उपर्युक्त सिद्धांत में अव्याप्ति दोष आजायगा और उसमें संशोधन करना पड़ेगा कि 'शीतल प्रदेशों के पर्वत हिमाच्छादित होते हैं'। इसी प्रकार जब किसी सिद्धांत का निर्धारण किसी विशेष विधा के लिये किया जाय और उसका प्रवेश उक्त विधा से भिन्न विधाओं में भी देख पड़े तो वहाँ अतिव्याप्ति दोष होगा। यथा—किसी ने कहा कि छंदोबद्ध रचना को काव्य कहते हैं। किंतु संस्कृत में ज्योतिष तथा आयुर्वेद के ग्रंथ भी छंदोबद्ध हैं, पर वे काव्य नहीं कहे जा सकते। अतः इसमें अतिव्याप्ति दोष आ गया। उक्त दोष से बचने के लिये हम को इसे इस प्रकार उपस्थित करना चाहिए—वह छंदोबद्ध रचना जो रसपूर्ण भी हो, काव्य कहलाएगी। उपर्युक्त दोषों को ध्यान में रखते हुए, हमारे उक्त सिद्धांत में अव्याप्ति दोष के उदाहरण प्रस्तुत किए जाने लगे, यथा—प्रलयप्रवाह, जयलक्ष्मी, हिमाच्छादन आदि शब्दों को आप एक मान कर चलेंगे अथवा दो। तब निश्चय किया गया कि उक्त सिद्धांत का आदर्श समस्त शब्द नहीं बल्कि यौगिक शब्द हैं। कहने का तात्पर्य

यह कि जब कोई दो या दो से अधिक शब्द मिलकर किसी एक भाव या वस्तु की व्यंजना करेंगे तो उन्हें एक माना जायगा और यदि वे परस्पर भिन्न भावों या वस्तुओं की अभिव्यक्ति करेंगे तो उन्हें पृथक गिना जायगा। इसी आधार पर हमने कामायनी के इंद्रजाल-जननी, हेमाभ, कल-निधि, सर्ग के अग्रदूत आदि शब्दों को जहाँ एक गिना वहाँ 'कांति-किरण रंजित तारा' को चार शब्दों का संघात मानकर, इन चारों की पृथक पृथक गणना की है। इसी प्रकार समस्त योगरूढ़ शब्दों को भी एक ही माना गया है— यथा, पंकज, जलद, उदधि आदि।

जब इस प्रकार से हम गणना की मान्यताओं का निर्धारण कर रहे थे तब सबसे बड़ी समस्या जो उपस्थित हुई वह थी व्याकरणिक दृष्टिकोण से विभाजित एवं विकसित शब्दरूपों की। व्याकरण की दृष्टि से शब्दों को अनेक भागों में विभाजित किया जाता है और फिर उसके रूपविकास पर विस्तार से विचार किया जाता है। इस दृष्टि से शब्दों के वर्गीकरण में पाश्चात्य और प्राच्य विद्वानों ने भिन्न भिन्न शैलियों का आश्रय लिया है। मूल रूप में चाहे उनमें कोई अंतर न हो पर स्थूल रूप में भिन्नता दृष्टिगत होती है। पाश्चात्य विद्वान् शब्द के आठ भाग करते हैं जिन्हें वे पार्ट्स आव् स्पीच की संज्ञा देते हैं, यथा—१. संज्ञा, २. क्रिया, ३. सर्वनाम, ४. विशेषण, ५. क्रियाविशेषण, ६. संबंधबोधक अव्यय, ७. समुच्चय-बोधक अव्यय, तथा ८. विस्मयादि बोधक अव्यय। इधर भारतीय विद्वान् शब्द को चार भागों में विभाजित करते हैं। महर्षि यास्क ने अपने निरुक्त कहा है—**नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च** अर्थात् शब्द के चार भाग होते हैं—१. नाम, २. आख्यात, ३. उपसर्ग तथा ४. निपात। पाणिनि ने इसे तीन ही भागों में बांटा है। प्रातिपदिक का लक्षण स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—**अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्** अर्थात प्रातिपदिक वह होता है जो अर्थवान् हो तथा न धातु हो और न प्रत्यय हो। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पाणिनि प्रातिपदिक, धातु तथा प्रत्यय, शब्द के तीन रूप मानकर चलते हैं। यहाँ प्रत्यय से संभवतः पाणिनि का अव्यय से ही अभिप्राय है। यदि इन सबका सूक्ष्मता से विश्लेषण करें तो पाश्चात्य आठ भेदों का संकोचन भारतीय तीन भागों में तथा भारतीय तीन भेदों का विस्तार पाश्चात्य आठ भागों में सरलता से किया जा सकता है। डा० बाबूराम सक्सेना ने अपने भाषाविज्ञान में इस ओर संकेत किया है—पदों में कुछ अव्यय होते हैं और बाकी अन्य। फिर अन्य पर विचार करते हुए आगे लिखते हैं—इस प्रकार विवेचना करने पर अंत में संज्ञा और क्रिया दो ही मुख्य भेद स्थिर दिखाई देते हैं। इन्हीं संज्ञा और क्रियाओं को क्रमशः यास्क और पाणिनि ने नाम और आख्यात, सुबंत और तिङंत नामों से अभिहित किया है। किंतु हमने अपने कार्य को ध्यान में रखते हुए तथा विषय को और भी

अधिक सरल एवं स्पष्ट बनाने के लिये सीधे छलांग न मारकर सोपानतः लक्ष्य तक पहुँचने का उपक्रम किया है। इस पथ से प्रकरण करते समय हिंदी भाषा को विशेषतः आदर्श बनाया गया है क्योंकि मूलतः इस समय हमारा संबंध भी इसी भाषा के एक अमूल्य ग्रंथ से है। अतएव शब्द को पहले हमने दो भागों में बाँटा—विकारी और अविकारी। विकारी शब्द वे शब्द हैं जिनके रूप में कारक, लिंग, वचन के प्रत्ययों के साथ संयुक्त होने के समय तथा कालनिर्देशन के समय कुछ न कुछ विकार आजाया करता है, यथा—नर-नारी, नरों, तुम, तुम्हें, करता, किया, करूँगा आदि। दूसरे वे शब्द हैं जिनके रूप में कभी कोई विकार नहीं आता, यथा तक, पर, और, या, तेज आदि। विकारी के अंतर्गत संज्ञा, क्रिया, सर्वनाम तथा विशेषण आते हैं और अविकारी के अंतर्गत क्रियाविशेषण तथा तीनों अव्यय। इस प्रकार के वर्गीकरण को लेकर चलने का तात्पर्य केवल इतना है कि जो शब्द कारक, वचन तथा लिंग के कारण भिन्न भिन्न स्थानों पर भिन्न भिन्न रूपों में प्रयुक्त हुए हैं उन्हें मूल रूप में एक ही मानकर चला जाय, क्योंकि उसके दूसरे रूप केवल मूल का विकार मात्र हैं, नवीन कोशज्ञान के परिचायक नहीं। यथा—

> तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में कुछ सत्ता है नारी की।
> समरसता है संबंध बनी अधिकार और अधिकारी की।
>
> (इड़ा)
>
> मैं जभी तौलने का करती उपचार स्वयं तुल जाती हूँ।
> भुज लता फँसाकर नर तरु से झूले से झोंके खाती हूँ॥
>
> (लज्जा)

उपर्युक्त पदों में आए 'है' और 'हूँ' क्रियाएँ तथा 'नर' और 'नारी' संज्ञा शब्दों में से हमने केवल 'है' और 'नर' शब्द को ही ग्रहण किया है, क्योंकि 'हूँ' तथा 'नारी' शब्द होना क्रिया तथा नर संज्ञा के विकार मात्र हैं, नवीन शब्द नहीं। किंतु यदि शब्द में लिंग तथा क्रिया का निर्देशन उसके विकारी रूप से न होकर भिन्न शब्द से हुआ है तो उसे हमने पृथक शब्द के रूप में गिना है, यथा—'होना' क्रिया के भूत का निर्देशक शब्द 'था'। यह शब्द होना क्रिया के भूत का सूचक होते हुए भी 'होना' क्रिया का उस प्रकार का विकृत रूप नहीं है जैसे किया, करूंगा, करो आदि करना क्रिया के। अतः हमने इनकी गणना पृथक पृथक की है। प्रातिपदिक में भी इस प्रकार के उदाहरण प्राप्त होते हैं, यथा—पुरुष-स्त्री, माता पिता आदि। इसी प्रकार क्रिया के अन्य भेदों के परिचायक शब्दों को भी मूल से भिन्न मानकर उनकी पृथक रूप में गणना की है, यथा क्रिया का अकर्मक रूप, सकर्मक रूप तथा प्रेरणार्थक रूप। यद्यपि इनमें से पर्याप्त रूप मूल के विकार स्वरूप ही उत्पन्न होते हैं तथापि वे भी एक विशेष रूप में भिन्न भाव तथा भिन्न

व्यापार के सूचक होने के कारण पृथक स्थान प्राप्त करने के अधिकारी हैं और उन्हें वह दिया भी गया है। इस विचारधारा का स्पष्टीकरण संबंध-तत्व-विवेचन के प्रसंग में किया जा चुका है। इसी प्रकार प्रातिपदिकों में भिन्न भाव या वस्तु को व्यक्त करनेवाले शब्दों को मूल से पृथक गिना है। यथा—भावुक-भावुकता, व्यक्ति-व्यक्तित्व आदि।

अब क्रिया के दो भेद शेष रह गए, जिनपर विचार करना बाकी है। उनमें से एक है पूर्वकालिक क्रिया और दूसरा है संयुक्त क्रियाएँ। इन दोनों क्रिया शब्दों का निर्माण दो शब्दों के योग से होता है तथा इनका प्रयोग कामायनी में पुष्कलता से उपलब्ध होता है। यथा—खाकर, चलकर, हो चुका, कर सकना, ले पाया आदि। इन क्रिया शब्दों को लेकर हमारे सामने दो प्रश्न उपस्थित होते हैं—१. उपर्युक्त क्रियाओं के अंतर्गत आए शब्दों को दो गिना जाय अथवा एक। २. गणना में इसे मूल का विकार माना जाय अथवा पृथक शब्द। पूर्वकालिक क्रियाओं का निर्माण मूल धातु के साथ 'कर' प्रत्यय लगाकर किया जाता है, कभी कभी मूल धातु को ज्यों का त्यों रखकर भी इस भाव की अभिव्यक्ति की जाती है। अब प्रश्न यह है कि 'कर' प्रत्यय है अथवा 'कृ' धातु का विकृत रूप। विद्वानों ने पर्याप्त विचारविमर्श के पश्चात् यह स्वीकार किया है कि 'कर' शब्द 'कृ' धातु का विकृत रूप होने पर भी हिंदी में प्रत्यय मात्र का ही द्योतक रह गया है। अतः इससे निष्कर्ष निकाला गया कि इसे दो धातुओं का सघात न माना जाय तथा काल के ही एक रूप का सूचक होने के कारण इसे मूल से भिन्न भी न माना जाय और यहाँ इसी मान्यता को स्वीकार भी किया है। अब प्रश्न शेष रह जाता है संयुक्त क्रियाओं का। जैसा कि नाम से भी प्रकट है तथा विद्वानों ने एक स्वर से स्वीकार किया है कि यह शब्द दो धातुरूपों के मेल से बना है। अतः हमने भी इन्हें दो ही माना है। इसके पूर्वार्ध को मूल से अभिन्न मानते हुए उत्तरार्ध को पृथक शब्द के रूप में ग्रहण किया है। यथा—'भूल गये पुरुषत्व मोह में सत्ता है कुछ नारी की'। उक्त पद में आए 'भूल' और 'गये' शब्दों की पृथक पृथक गणना की है। इस प्रकार प्रायः क्रिया के समस्त रूपों पर उपर्युक्त मान्यताओं को लागू करते हुए आकलन का कार्य संपन्न किया गया है।

अब अंत में शब्द के ऐतिहासिक रूप को दृष्टिगत रखते हुए आकलन की मान्यताएँ स्थापित करने का प्रयत्न करेंगे। डा० बाबूराम सक्सेना ने प्रसंगतः गणना पर विचार करते समय लिखा है—'इसी तरह व्यक्तियों के शब्दों की गणना करते समय यदि कोई व्यक्ति बहुभाषाविद् हो तो एक ही विचार को बतलानेवाले कई शब्दों (बुक, पुस्तक, किताब) में से एक ही को गिनना चाहिए, बाकी को छोड़ देना चाहिए। यदि कोई विदेशी शब्द कुछ नया

विचार उपस्थित करता हो तो दूसरी बात है।'[८] उपयुक्त मान्यता, जहाँ तक व्यक्ति-शब्दगणना का संबंध है, वहाँ तक तो ठीक है, किंतु जहाँ हम किसी साहित्यिक कृति का अध्ययन करके देखेंगे वहाँ तो स्पष्ट रूप से दिखाई देगा कि उसमें सांस्कृतिक अंतर निहित है। यथा—डाक्टर, वैद्य तथा हकीम तीनों शब्द पर्यायवाची होते हुए भी चिकित्साशास्त्र की विभिन्न प्रणालियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। यदि किसी ग्रंथ में इन तीनों शब्दों का प्रयोग उपलब्ध होगा तो निश्चित ही उन्हें एक नहीं गिना जा सकेगा। इसी मान्यता को ध्यान में रखते हुए कामायनी के शब्दाकलन के समय उन तद्भव शब्दों को जो अपने तत्सम शब्द से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं, पिछले से पृथक गिना है। उदाहरण के रूप में उसे यों समझा जा सकता है। 'स्थान' शब्द को दो तद्भव रूप उपलब्ध होते हैं, यथा—थान और ठाण। किंतु आश्चर्य की बात यह है कि उक्त तीनों शब्दों का भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयोग होता है। 'स्थान' शब्द का प्रयोग किसी भी जगह विशेष के लिये किया जा सकता है, जब कि 'थान' शब्द का प्रयोग उत्तर भारत में केवल धार्मिक स्थानों के लिये ही होता है और 'ठाण' शब्द का प्रयोग तो पशुओं को जिस स्थान पर बाँधा जाता है उसके लिये सीमित होकर रह गया है। अतः ऐसी स्थिति में इन तीनों शब्दों को एक मानकर चलना किसी प्रकार भी न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता। कई बार ऐसा भी देखा गया है कि कोई मूल रूप इतना घिस जाता है कि वह किसी दूसरे मूल रूप की जैसी आकृति धारण कर लेता है और विद्वान् अर्थ की भिन्नता मानते हुए भी शब्द को एक ही मान बैठते हैं। यह उचित नहीं। जैसे कामायनी में काम शब्द के प्रयोग में देखा जा सकता है—

> बुद्धि, मनीषा, मति, आशा, चिंता तेरे हैं कितने नाम।
> अरी! पाप है, तू, जा, चल जा, यहाँ नहीं तेरा कुछ काम॥
>
> (चिंता)

> मैं काम रहा सहचर उनका उनके विनोद का साधन था।
> हँसता और हँसाता था, उनका मैं कृतिमय जीवन था॥
>
> (काम)

उपयुक्त पद्यों में दो बार 'काम' शब्द का प्रयोग हुआ है किंतु एक दूसरे से भिन्न अर्थों में। गहराई से देखने पर ज्ञात होगा कि इनमें अर्थभिन्नता ही नहीं मूल उत्स की भिन्नता भी है, यथा, प्रथम 'काम' का संस्कृत कर्म शब्द—

८. सामान्य भाषाविज्ञान पृ० ११०।

कर्म > कंम > काम से जन्म हुआ है जब कि द्वितीय काम शब्द स्वयं एक तत्सम शब्द है। इस प्रकार के अंतरों को ध्यान में रखते हुए ही हमने तद्भवादि शब्दों की गणना की है।

अब केवल एक स्थूल बात ही कहनी है और वह यह कि शब्द की एक बार गणना हो जाने पर चाहे उसका कितनी ही बार प्रयोग क्यों न हुआ हो, उसकी पुनः गणना नहीं की जायगी।

उपर्युक्त मान्यताओं की स्थापना में बहुत संभव है कि त्रुटियां रह गई हों, किंतु हिंदी साहित्य में यह हमारा पूर्णतः अभिनव प्रयास है। अतः जिस किसी भी त्रुटि की ओर विद्वान् संकेत करेंगे, हमें उसका संशोधन करने में किंचित् मात्र भी संकोच न होगा, बल्कि इस प्रकार के परिष्करण को प्राप्त करता हुआ यह कार्य स्वयमेव एक प्रकाशमान स्वरूप धारण कर लेगा। विश्वास है, यह कार्य साहित्य-प्रेमियों को इस ओर अग्रसर होने के लिये प्रोत्साहित करेगा तथा हिंदी आलोचना की गति को एक नवीन दिशा की ओर ले जाने में सहायक सिद्ध होगा।

उपर्युक्त सिद्धांतों एवं मान्यताओं को दृष्टिगत रखते हुए कामायनी के शब्दों का जो आकलन किया गया उसका निष्कर्ष यहाँ उपस्थित है।

अकारादि वर्णों से प्रारंभ होनेवाले शब्दों की संख्या—

अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ए	ऐ	ओ	औ
२६०,	७०,	२१,	२,	१०५,	८,	४,	३,	८,	१
क	ख	ग	घ	च	छ	ज	झ	ट	ठ,
१९१,	३१,	८०,	१८,	८४,	३८,	७६,	३०,	९,	११,
ड	ढ	त	थ	द	ध	न	प	फ	ब
१५,	१३,	९६,	३,	१०६,	४५,	१५०,	२८५,	२७,	११८,
	भ	म	य	र	ल	व	श	स	
	८२,	१७९,	२९,	७८,	७५	१९५,	९०,	३११	
			ह	क्ष	त्र	ज्ञ			
			५६,	१४,	१०,	२			

कुल शब्दसंख्या — ३०५० + कारक शब्द - १० = ३०६०

सर्गानुसार कामायनी के शब्दों की संख्या —

चिंता—६५२, आशा, ७६८, श्रद्धा ५४५, काम ५८४, वासना ८३८, लज्जा ५०१, कर्म ७४२, ईर्ष्या, ७१३, इड़ा १२०३, स्वप्न ७९०, संघर्ष ५९४, निर्वेद ७८८, रहस्य ७४५, दर्शन ८७४, आनंद ९२२।

तत्सम–२१०८, तद्भव–८५७, देशज-७१, विदेशी–१८।

श्रव्यनाट्य शिल्प

शांति मल्लिक

आज विज्ञान का युग है। विज्ञान की प्रगति नूतन आविष्कारों पर अवलंबित है। आविष्कार में मानवबुद्धि का समायोग अवस्थित रहता है। जिस प्रकार मनुष्य में सत् और असत् भावनाओं का उद्वेलन उसे सुकृत्य और कुकृत्य करने को बाध्य करता है, वैसे ही बुद्धि की उर्वरता जब प्राविधिक (टेक्निकल) क्षेत्र में पदार्पण करती है और वैज्ञानिक चमत्कारों का सृजन करती है, तब भी उसके आविष्कार मानवघातक और मानवोपयोगी द्विविध होते हैं। तभी हम आज देखते हैं कि जहाँ वैज्ञानिक बड़े बड़े पहाड़ों को भूमिसात् करके ऊबड़ खाबड़ स्थानों को समतल करके प्राणियों के लिये वासस्थान प्रदान करते हैं, वहाँ एक छोटा सा बम सृष्टि के जीवों के समूल नाश का कारण बन जाता है। तब भी विज्ञान की उपादेयता तर्कानुभूत एवं स्वयंसिद्ध है। रेल, बिजली, रेडियो तथा अन्य मानवोपयोगी शतश: वस्तुओं का नित्यप्रति व्यवहार आज केवल विलास की सामग्री ही नहीं रहा, वरन् जीवन का आवश्यक अंग बन गया है। गृहकक्ष में सपरिवार विविध कार्यक्रमों द्वारा आनंदप्राप्ति का साधन रेडियो आज शिक्षा का शक्तिशाली माध्यम बन गया है। भारत में ध्वनिप्रसारण (ब्राडकास्टिंग) का विधिवत् प्रवेश २३ जुलाई, १९२७ में हुआ। क्रमश: रेडियो कलाकौशल का विकास होता रहा और द्वितीय महायुद्ध में रेडियो नाटक के आधुनिक रूप का उद्गम हुआ। इसी प्रयोगकालीन अवस्था में समय पाकर रूपक और आलेख रूपक (डाक्यूमेंटरी) भी लोकप्रिय हो गए।[1] स्वाधीनताप्राप्ति के उपरांत रेडियो मनोरंजन का साधन मात्र नहीं रहा, प्रत्युत् राष्ट्रनिर्माण में वह सशक्त और सक्रिय प्रभाव का माध्यम बन गया है। ध्वनि जैसे सूक्ष्म एवं अरूप माध्यम से संगीत और अन्य मनोरंजन कार्यक्रमों की सफलता देखकर नाटक के प्रसार का उत्तम साधन रेडियो समझा गया। प्रारंभिक दिनों में नाटककार के लिये यह प्रयोग अत्यंत महत्वपूर्ण था, क्योंकि यह विधान एवं प्रकार विभिन्न रंगमंचीय विधानों एवं दर्शकों के कक्ष की योजना आदि के झंझट से दूर, श्रुति पर अवलंबित रचनाशिल्प के माध्यम से

१. हरिश्चंद्र खन्ना : रेडियो नाटक, पृ० ५।

भावाभिव्यंजन का सरल एवं सस्ता साधन था। रेडियो के ये गुण प्रतिभाशाली हिंदी-लेखियों को आकृष्ट करने में सफल हुए। आज सभी विख्यात नाटककार रेडियो के लिये उपयोगी नाटकों का प्रणयन कर प्रभूत ख्याति प्राप्त कर चुके हैं।

नामकरण की सार्थकता—स्वाधीन भारत में जब अंगरेजी के पारिभाषिक शब्दों का हिंदीकरण हो रहा है, तब नाटककारों और आलोचकों ने भी इस विधा को नाम देने का प्रयास किया है। डा० रामकुमार वर्मा ने 'रेडियो नाटकों' को 'ध्वनि नाटक' के नाम से अभिहित किया है।[2] डा० रामचरण महेंद्र इसे 'ध्वनि एकांकी' कहते हैं।[3] 'ध्वनि' शब्द के बहुलार्थी होने के कारण भी सिद्धनाथकुमार ने दोनों पदों में व्यवहृत ध्वनि शब्द को सफल पर्याय न मानकर यह तर्क प्रकट किया है—'ध्वनि नाटक से रेडियो से प्रसारित होनेवाले नाटक का बोध नहीं होता। यह सत्य है कि रेडियो से प्रसारित किए जानेवाले नाटकों में शब्द, आवाज अथवा ध्वनि की प्रधानता होती है, पर रेडियो नाटक के सभी उपकरण इसके अंतर्गत नहीं आ पाते। संगीत, जो रेडियो नाटक का एक प्रधान साधन है, की व्यंजना 'ध्वनि' से नहीं होती। सच कहा जाए, तो ध्वनि या आवाज (साउंड एफेक्ट) रेडियो नाटक का केवल एक उपकरण है, अतः रेडियो से प्रसारित होनेवाले नाटक को 'ध्वनि नाटक' कहना उचित नहीं जँचता।'[4] डा० महेंद्र के विचार से वैमत्य प्रकट करते हुए वे दर्शाते हैं—'ध्वनि एकांकी नाम तो रेडियो नाटकों के ही संबंध में भ्रम उत्पन्न कर देता है। यह भ्रम बहुत लोगों में है। लोग समझते हैं कि रेडियो से प्रसारित किए जानेवाले नाटक एकांकी नाटकों की श्रेणी के होते हैं।[5] श्री कुमार के विचार तर्कसंगत एवं सारगर्भित अवश्य हैं, किंतु एक स्थल पर जहाँ उन्होंने 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग उचित ठहराया है, वहाँ दूसरे स्थान पर वह उलझ गए हैं और उन्होंने ध्वनि को ही नाटक का मात्र अवलंबन (आधार) मान लिया है।[6] इससे उनके निजी मत को स्वतः आघात

२. आजकल, अगस्त, १९५१।

३. कल्पना, दिसंबर, १९५२।

४. श्री सिद्धनाथकुमार, रेडियो नाट्यशिल्प, प्रथम संस्करण, १९५५, पृ० १९।

५. वही, पृ० २०।

६. 'रेडियो नाटक में दृश्यतत्व बिलकुल नहीं रहते। उनकी कमी श्रव्यसाधनों से पूरी करनी पड़ती है। ये श्रव्यसाधन केवल तीन ही हैं, जिनका रेडियो नाटकों में व्यवहार किया जाता है—भाषा, ध्वनिप्रभाव और संगीत।

पहुँचा है। अस्तु, तब भी अधिक बोधगम्य एवं सरल होने के कारण उनके द्वारा प्रदत्त 'रेडियो नाटक' नाम तथ्यसादृश्य रखनेवाला श्री हरिश्चंद्र खन्ना का नाम 'रेडियो नाटक' हमें अमान्य नहीं है।[७] परंतु 'रेडियो नाटक' के स्थान पर उसकी प्रमुख विशेषताओं पर आश्रित सफल नामकरण होना कोई कठिन कार्य नहीं। हमारे विचार में इसका उपयुक्त एवं सुबोध नाम 'श्रव्यनाटक' हो सकता है।

'श्रव्यनाटक' नाम की सार्थकता के विषय में हम ये स्थापनाएँ प्रस्तुत कर सकते हैं। रंगशाला में रंगमंच पर अभिनीत होनेवाले नाटकों को रंगमंचीय नाटक अथवा रंगनाटक (स्टेज प्ले) की अभिधा से विभूषित किया जाता है। कारण, उसके अभिनय का स्थल एक सुनिर्मित अभिनयशाला का रंगमंच ही होता है। दृश्यतत्व का प्राधान्य होने के कारण प्राचीन नाट्यशास्त्रियों ने इसका नाम दृश्यकाव्य ही रखा है। इस प्रकार फिल्मगृह या सिनेमा से रजतपट पर चित्रों के माध्यम से दिखाए जानेवाले खेल को चित्रपट भी कह देते हैं। अतः उससे फिल्मजगत से संबद्ध नाटकों का भाव प्रकट हो जाता है। 'रंगनाटक' और 'चित्रनाटक' में दृश्यतत्व का प्राधान्य रहता है। इसके विपरीत रेडियो नाटक का आनंद उठानेवाले दर्शक न होकर श्रोतृवृंद होते हैं। चाक्षुष तत्व के अभाव में हमें उनका अनुभव श्रवणशक्ति द्वारा ही होता है, अतः रेडियो नाटक के लिये हिंदी शब्द 'श्रव्यनाटक' बिल्कुल उपयुक्त है।

श्रव्यनाटक के प्रधान तत्व—श्रव्यनाटक में नाटक के अन्य रूपों की भाँति कथावस्तु रहती है, जिसका स्रोत इतिहास, पुराण अथवा वर्तमान सामाजिक जीवन का कोई पहलू हो सकता है। 'आल इंडिया रेडियो' भारत सरकार के अधीन है, अतः इसमें किसी मत, धर्म, संप्रदाय अथवा दल विरोधी एवं भारतीय संस्कृति के प्रतिकूल पड़नेवाली किसी विषयवस्तु को प्रश्रय नहीं दिया जाता। वैसे भी संकुचित भावनाओं से ऊपर विश्वजनीन एवं मानवीय रागविरागों से संबंधित हृदयस्पर्शी विषय ही श्रव्यनाटकों को अधिक सफल एवं महत्वपूर्ण

इन तीनों का आधार है ध्वनि। ध्वनि अभिव्यक्ति का बहुत सशक्त साधन है ... जो कार्य चित्रकार रंगों द्वारा करता है वह रेडियो नाटककार और अभिनेता ध्वनियों के द्वारा।—वही, पृ० ३३।

७. रेडियो से प्रसारित नाटकों की सैद्धांतिक एवं शिल्पगत विशेषताओं का विवरण देनेवाले अपने ग्रंथ का नाम उन्होंने 'रेडियो नाटक' रखा है।

बना सकते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि श्रव्यनाटककार यथासंभव छोटा कथानक रखने का प्रयत्न करता है। इस संबंध में श्री खन्ना का मत है—'इन नाटकों की कथावस्तु एक अति सरल घटनाक्रम तक सीमित होती है, लेकिन शैलीगत विशेषताओं के आधार पर व्यक्ति और समष्टि की भावनाओं, संस्कारों और चिंताधाराओं की अभिव्यक्ति की जाती है।'[८]

वस्तुचयन के उपरांत श्रव्यशिल्पकार का कार्य है—कथातंतुओं को नियमित, व्यवस्थित एवं सुसंबद्ध करना। क्योंकि श्रव्यनाटक एक निश्चित अवधि में परिमित रहता है। पात्र प्रत्यक्ष रूप से उपस्थित नहीं होते, वे अदृश्य रहते हैं। अतः कथानक में अप्रासंगिक कथानक एवं घटनाओं का परित्याग करके उसे सशक्त एवं सुसंबद्ध बनाना चाहिए। इसके अतिरिक्त कथानक गतिशील एवं श्रोताओं की औत्सुक्यवृद्धि में भी सहायक होना चाहिए। दर्शकों की जिज्ञासा बढ़ाने में श्रव्यनाटक के शीर्षक का भी विशेष महत्व है, अतः शीर्षक इतना आकर्षक हो कि सुननेवाला उत्सुक हो जाय। श्रव्यनाटक के इन गुणों का मूल्यांकन करते हुए लियोनेल गैमलिन ने श्रव्य-नाट्य-रचयिताओं को परामर्श दिया है कि वे गति, सरलता एवं कल्पना पर ही रचनाओं को आश्रित करने का अभ्यास करें।[९]

श्रव्यनाटककार का कर्तव्य है कि वह पात्र के चरित्रचित्रण पर भी बल दे। श्रव्यनाटक की अल्प परिधि के कारण नाटक के पात्रों की लंबी भीड़ उसके कार्यपर कुठाराघार करती है। अतः नाटक में उन्हीं पात्रों को स्थान दिया जाय जिनका मुख्य वस्तु से अटूट संबंध हो एवं जो रचना की विषयवस्तु के विकास के साथ साथ तीव्र गति से अपने क्षीण परिचय का आभास भी दे जाते हों। संवाद में इस तत्व को समाहित किया जासकता है। अतः श्रव्यनाटक के प्रधान तत्व हैं--भाषा, ध्वनिप्रभाव और संगीत। भाषा के दो भेद हैं—पहला संवाद और दूसरा आख्यान (नैरेशन)। ये दोनों भेद विचारणीय हैं।

भाषा

संवाद—संवाद वस्तुतः श्रव्यनाटक का मूलभूत आलंबन है। इसी के माध्यम से कथावस्तु का परिचय, पात्रों की गतिविधि का परिज्ञान एवं वातावरण का निर्माण होता है। अतः इस ओर रचनाकार का विशेष ध्यान रहता है। सफल श्रव्यनाटक के लिये आवश्यक है कि संवाद सुबोध, संयत एवं अवसरोचित

८. रेडियो नाटक, पृ० ६६।
९. ए आर आन द एयर, पृ० ७।

हों। भावातिरेक के कारण उनमें कृत्रिमता या अतिरंजना का दोष नहीं आना चाहिए और न उनके बोलने में अभिनेताओं को किसी प्रकार की कठिनाई होनी चाहिए। ध्वनि नाटक में भाषा का वही रूप उचित है जो बोलने और सुनने में सुगम हो, क्योंकि संवादों में स्वाभाविकता, प्रवाह, स्पष्टता, संक्षिप्तता, उचित शब्दयोजना का विशेष महत्व है। स्वाभाविकता लाने के लिये अनिवार्य है कि साहित्यिक भाषा के स्थान पर पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं के अनुरूप साधारण बोलचाल की भाषा प्रयुक्त की जाय। कृत्रिम वाक्चातुर्य और वैयाकरणिक कलाबाजियाँ श्रोता को उबा देती हैं। संक्षिप्त और सरल वाक्य अधिक प्रभावोत्पादक होते हैं। एक उदाहरण-—

रेखा—रात बीत रही है माधव।
माधव—मेरी आँखों में नींद नहीं है।
रेखा—मैं कहती हूँ, अब सो जाओ।
माधव—नहीं रेखा, अभी मैं नहीं सो सकता।
रेखा—न मालूम तुम्हें कभी-कभी क्या हो जाता है।[10]

इस प्रकार पूर्वापर की लड़ी में जुड़े हुए संवाद शीघ्रता से उत्तर-प्रत्युत्तर के रूप में अग्रसर होने चाहिएँ। ऐसा होने से कथोपकथन में एकरसात्मकता एवं शुष्कता नहीं आने पाती और भावों की स्पष्ट अभिव्यक्ति भी होती है। इसके अतिरिक्त संवादों में लय और शब्दों का वैविध्य भी वांछनीय है। श्री ... ने लय का स्पष्टीकरण किया है, 'शब्दों के ध्वन्यात्मक और गत्यात्मक संबंध को ही हम संवादों की लय कह सकते हैं।'[11] संवादों की लयपूर्णता के लिये वाक्यों का गठन बदलते रहना चाहिए। जैसे,

स्त्री—मिथिला बड़े-बड़े दार्शनिकों की भूमि है।
पुरुष—न्यायसूत्रों के रचयिता गौतम यहीं हुए थे।
स्त्री—वैशेषिक दर्शन के जन्मदाता कणाद की जन्मभूमि यहीं है।
पुरुष—मीमांसा-दर्शन के प्रवर्तक जैमिनि यहीं रहते थे।
स्त्री—सांख्यशास्त्र के निर्माता कपिल का निवास मिथिला में ही था।[12]

उपर्युक्त गुणों से युक्त संवाद नाटक की विषयवस्तु और पात्रों के चरित्रचित्रण की अभिव्यक्ति में सहायक होते हैं। संवादों के और भी कई उद्देश्य हैं। इनमें

१०. सिद्धनाथकुमार : रेडियो-नाट्य-शिल्प, वे अभी कुँआरी हैं, पृ० १६७।
११. 'रेडियोनाटक, पृ० १३६।
१२. सिद्धनाथ कुमार : मिथिला, पृ० ७७।

वातावरण के निर्माण में सहायता मिलती है। रेडियो सुननेवालों की दृष्टि से दूर पात्रों का परिचय, उनके हाव-भाव आदि का बोध भी हो जाता है। दोनों बातों के उदाहरणस्वरूप पाठशाला का यह दृश्य देखिए—

> अजीत—अरे नरेंद्र, तू क्या कर रहा है ? खेलने नहीं जायगा बाहर ?
> नरेंद्र—जा रहा हूँ मास्टर जी।
> अजीत—और काशी, तू क्या कर रहा है उस कोने में ?
> काशी—सबक याद कर रहा हूँ मास्टर जी।
> अजीत—(बिगड़कर) आज तुझे सबक याद आया है। जा, अब जा खेल ! भाग, मुझे काम करने दे।[13]

आख्यान (नैरेशन)—भाषा के अंतर्गत परिगणित संवाद का सहयोगी तत्व है आख्यान। आख्यान या नैरेशन का अभिप्राय उस पात्र के वार्तालाप से है जो श्रव्यनाटक के क्रियाकलापों का वातावरण तैयार करने, घटनाओं की शृंखला जोड़ने तथा दृश्य-परिस्थितियों आदि का विवरण देने का काम करता है। वह नाटकीय प्रसंगों की आलोचना करके अव्यक्त स्थलों को प्रकाशित करता है। श्रव्यरूपक के ऐसे कार्यकर्ता को नैरेटर, सूत्रधार, प्रवक्ता, वाचक, पुरुषस्वर, या कीस्वर, कथाकार, आलोचक, उद्घोषक आदि कई संज्ञाओं से अभिहित किया जाता है। ये व्यक्ति अपने कार्य के आधार पर दो प्रकार के होते हैं—संबद्ध और असंबद्ध। संबद्ध उद्घोषक नाटक के पात्र होते हैं, उनके जीवन की घटनाएँ ही श्रव्य उपकरणों द्वारा प्रस्तुत की जाती हैं। असंबद्ध उद्घोषक या आख्याता नाटकीय कार्यव्यापार का तटस्थ दर्शक एवं प्रवक्ता होता है। उसके व्यक्तिगत जीवन की घटनाएँ नाटक में नहीं होतीं।

प्रथम श्रेणी के आख्याता जीवनचरित पर आधृत नाटकों में महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। नाटककार आत्मकथा के पात्रविशेष की शब्दावली भी उसके द्वारा सुगमता से प्रस्तुत कर सकता है। दूसरी श्रेणी के आख्याता की भी बड़ी उपयोगिता है। वह संक्षेप में ऐसा विवरण देता है, जिसके माध्यम से श्रोता घटनाक्रम को भली भाँति हृदयंगम कर लेता है। इसके द्वारा विशेष महत्वपूर्ण भावी घटनाओं के लिये पृष्ठभूमि निर्मित होजाती है। पद्यनाटकों में यह असंबद्ध आख्याता चारण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। दो विभिन्न विचारधाराओं की अभिव्यंजना के निमित्त प्रत्येक का प्रतिनिधित्व करने के लिये, दो

---

१३. श्री विष्णुप्रभाकर की कहानी 'सोना की बात' का रूपांतर—रेडियो नाटक, पृ० १७७।

आख्याताओं का उपयोग भी कर लिया जाता है। जैसे अफजल और शिवाजी के ऐतिहासिक वृत्तांत को प्रसारित करने के लिये एक पात्र मराठादल की घटनाओं का विवरण दे और दूसरा मुसलमानवर्ग की। असंबद्ध आख्याता के विषय में एक बात और स्मरणीय है कि वह आवश्यक रूप से सांसारिक प्राणी ही नहीं होता। इतिहास, खंडहर आदि को भी हाड़ मांस के रूप में उपस्थित किया जा सकता है। यथा—सिद्धनाथ कुमार के 'उत्तरा' और 'द्रौपदी' में इतिहास को भी आख्याता बनाया गया है।

अतः स्पष्ट है कि श्रव्यनाटक के कथोपकथन के अंतर्गत न आनेवाली बातों को श्रोताओं के सम्मुख भली भाँति प्रस्तुत करने के हेतु आख्याताओं का स्थान स्थान पर नियोजन आवश्यक सा है। फेलिक्स फेल्टन ने चेस्टर्टन की कहानी के एक रूपांतर में जानबूझ कर उसका परित्याग किया था, किंतु बाद में जब उन्हें इस कमी का अनुभव हुआ तो उन्होंने इसकी उपयोगिता को स्वीकार किया।[१७] किंतु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आख्याता (नैरेटर) की उपयोगिता होने पर भी असावधानी से उसका प्रयोग दोष का कारण बन जाता है। अतः इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कहीं उसके कारण घटनाओं की पुनरावृत्ति न हो जाय। बारबार आख्यान के प्रयोग से घटनाओं में बाधा नहीं पहुँचनी चाहिए; वरन् उसके द्वारा साधारण एवं गौण घटनाओं का विवरण देकर नाटक की गत्यात्मकता बढ़ानी चाहिए।

आख्यान (नैरेशन) का सौंदर्य भाषाशैली पर निर्भर है। इसमें प्रायः संवाद की भाषा जैसे गुण ही आवश्यक माने जाते हैं। सरल शब्दों का संयोजन अनेकार्थ शब्दों और आलंकारिक प्रयोगों की न्यूनता, वाक्यों का समुचित गठन, विराम और उद्धरण चिह्नों का उचित प्रयोग अच्छे आख्यान के लिये अपेक्षित है। यही नहीं उसमें परिस्थिति के अनुसार लयात्मकता एवं मधुरता आनी भी अनिवार्य है। यथा—करुणा का वातावरण प्रस्तुत करने में जहां मंदगति से चलने वाले कुछ लंबे वाक्य अत्यंत सहायक सिद्ध होते हैं, वहाँ युद्ध और बल के प्रदर्शन आदि की व्यंजना के हेतु छोटे छोटे ओजपूर्ण कथन उपयोगी बन सकते हैं। श्रव्यनाटकों में इन गुणों की प्रतिष्ठा के निमित्त जहां कथन की भाषा में भावोचित एवं स्वाभाविक शब्द-चयन वांछनीय है, वहाँ उसमें शब्दसंयम का तत्व भी प्रचुर मात्रा में रहना चाहिए। लियोनेल गैमलिन ने भी कथन की

१७. द रेडियो प्ले : इट्स टेक्नीक एंड पासिबिलिटीज़, पृ० ३३।

शैली में संयम, चयन एवं परिष्कार आदि गुणों को आवश्यक बतलाया है।[१५]

ध्वनिप्रभाव

श्रव्यनाटक में दृश्यतत्व का अभाव रहता है। उसकी पूर्ति ध्वनिप्रभाव द्वारा की जाती है। ध्वनिप्रभाव का उद्देश्य मुख्यतः यथार्थता की व्याख्या करना एवं परिपार्श्व का निर्माण करना है। ध्वनिप्रभाव की सफलता इस बात पर निर्भर है कि उसका प्रसारण स्थान, वस्तु तथा भाव के अनुकूल हो। वैसे तो ध्वनिप्रभाव का विशेष संबंध नाटक के निर्देशक से है, क्योंकि प्रत्येक रेडियो स्टेशन में ध्वनिप्रभाव के साधन हास्य, रुदन, वर्षा, वादन, बंदूक तथा मोटर आदि की ध्वनियों के रिकार्ड संगृहीत रहते हैं इन्हीं के द्वारा नाटक प्रसारण के समय ध्वनिप्रभाव उत्पन्न किए जाते हैं। किंतु रेडियो लेखक को इसका ज्ञान आवश्यक है, ताकि वह उचित स्थल पर सार्थक ध्वनियों का संकेत कर दे। रेडियो नाटक के लेखक द्वारा निर्दिष्ट ध्वनियों का संवादों से निकट संबंध होना चाहिए। उनकी अनिवार्यता के संबंध में किसी प्रकार का संदेह न रहे। दूसरे ध्वनिविशेष का वास्तविक अर्थ वातावरण की विशेषता पर निर्भर है। इसी लिये श्रव्यनाटककार को ध्वनियों के अर्थ से अधिक उनकी व्यंजना, उनके प्रभाव को ध्यान में रखना चाहिए।[१६] जिन स्थलों पर विवरण नीरस होते हैं उन्हें सरस बनाने के लिये भी ध्वनिप्रभाव की सहायता ली जाती है। श्रव्य नाटक में दृश्यों के प्रतीक पर्दों का अस्तित्व न होने के कारण ध्वनिप्रभाव के द्वारा ही परिपार्श्व का निर्माण होता है। इससे दृश्यों में एक प्रकार का घनत्व आजाता है, और ऐसा प्रतीत होता है कि पात्र ठोस पृष्ठभूमि पर अभिनय कर रहे हैं, शून्य में नहीं।

श्रव्यनाटक का घटनास्थल क्या है, कौन सा समय है आदि बातों के उल्लेख के लिये वातावरण के निर्माण की अपेक्षा होती है। कागज की खड़खड़ाहट, टेलीफोन की घंटी, टाइपराइटर की ध्वनि से कार्यालय का वातावरण निर्मित किया जाता है। पात्रों के कार्य व्यापार की व्याख्या भी ध्वनिप्रभाव के माध्यम से की जाती है। कई बार ध्वनि से दिशा की सूचना नहीं मिल पाती। जैसे किसी साइकिल सवार की घंटी से उसके आगमन की सूचना तो

१५. यू आर आन द एयर, पृ० ३।
१६. रेडियो नाटक, पृ० १४६।

मिल जाती है, पर दिशा का बोध नहीं होता। दिशा संकेत के लिये संलाप का आश्रय भी लिया जाता है, किंतु ध्वनिप्रभाव के स्पष्टीकरण के लिये ही इसका उपयोग होना चाहिए। क्योंकि इस प्रकार के संलापों का बाहुल्य रचना को दोषपूर्ण बना देता है। एक बात ध्वनिप्रभाव के प्रयोग के विषय में भी है। श्रव्यनाटक की पांडुलिपि में लेखक द्वारा स्पष्ट रूप से उल्लिखित ध्वनि-प्रभाव उस कृति के प्रसारण में विशेष सहायक होते हैं, किंतु बार बार ध्वनि-प्रभाव का प्रयोग भी उबानेवाली वस्तु भी बन जाता है। अतः केवल उन्हीं ध्वनिप्रभावों को स्थान दिया जाय, जो अत्यधिक प्रभावोत्पादक हों। वस्तुतः कम से कम और स्थानानुकूल ध्वनिप्रभाव ही अधिक प्रभावशाली होते हैं।[१७]

संगीतयोजना

संवाद एवं ध्वनिप्रभावों के साथ ही श्रव्यनाटक में संगीत का भी परम महत्व है। संगीत से अभिप्राय वाद्यसंगीत से है। श्रव्यनाटक में यह साधन एक अलंकार मात्र न होकर नाटककार के अभिव्यंजनाशिल्प का एक सफल, महत्वपूर्ण एवं अत्यंत प्रभावशाली उपकरण है।

श्रव्यनाटक में संगीत के व्यवहार की दो विधियाँ होती हैं--स्वतंत्र रूप से और संलाप की पृष्ठभूमि के रूप में।[१८] संगीत का स्वतंत्र प्रयोग नाटक के प्रारंभ, अंतराल और अंत में होता है। आरंभिक या आमुख संगीत यदि आकर्षक हो तो नाटक के प्रति श्रोताओं का औत्सुक्य जागृत कर देता है एवं घटनाक्रम तथा परिस्थितियों को सुबोध बना देता है। अंतिम संगीत नाटक की समाप्ति या पूर्णता को सूचित करता है। अंतराल संगीत एक दृश्य के अंत और दूसरे दृश्य के प्रारंभ का सूचक होता है। देश अथवा काल की परिणति की सूचना के साथ साथ यह नाटक के विभिन्न खंडों को एक सूत्र में पिरो देता है। फलस्वरूप घटनाएँ शृंखलाबद्ध एवं गतिशील रहती हैं।

संगीत के और भी कई उद्देश्य हैं। संवादों के पीछे भावानुरूप पृष्ठभूमि-संगीत की योजना से उनके प्रभावों को तीव्र बनाया जाता है। भावों के उद्दीपन के अतिरिक्त पात्रों के हृदय में उठनेवाले विभिन्न भावों की परिवर्तन शृंखला भी संगीत के द्वारा व्यक्त की जाती है। वातावरण निर्माण के निमित्त भी संगीत व्यवहृत होता है। करुणस्थल पर करुणाव्यंजक संगीत उचित वातावरण की सृष्टि

१७. रेडियो प्ले : इट्स टेक्नीक एंड पासिबिलिटीज, पृ० ३४।
१८. रेडियो नाट्यशिल्प, पृ० ५६।

कर देता है। ऐतिहासिक काल की सूचना भी संगीत द्वारा दी जाती है। कई बार पृष्ठभूमि संगीत का संयोजन ध्वनिप्रभावों के साथ भी होता है, यथा—युद्ध में तोपों की ध्वनि अथवा आँधी और तूफान के वेग का प्राबल्य संगीत द्वारा प्रस्तुत करके प्रभाव को द्विगुणित किया जाता है। संगीतज्ञों के जीवन पर आधृत नाटकों में तो संगीत नाटक का अनिवार्य अंग ही बन जाता है। इसी प्रकार अभिव्यंजनाप्रधान नाटकों (यथा नरेशकुमार मेहता का नील दिशाएँ) अतिकल्पना नाटकों एवं प्रतीक नाटकों (त्रिलोकचंद कौसर कृत हयाते नौ) में भी संगीत का महत् प्रयोग होता है। उसकी भी कुछ मर्यादाएँ हैं। वस्तुतः संगीत प्रभाव की सफलता संवाद क्रम से पूर्ण एकात्मक होने में है। जब संगीत संवादों से पृथक हो जाता है, तो नाटक के प्रभाव की हानि होती है। अतः उपयुक्त संगीत संयोजन की परख इसी बात से होती है कि वह उचित वातावरण की सृष्टि करते हुए, संवादों एवं भावों का सहगामी बनकर श्रोता के हृदय में औत्सुक्य और कौतूहल जगाए रखे।

❀

डोगरा राजवंश और संस्कृत

गंगादत्त शास्त्री 'विनोद'

डुग्गर धरती वीरता की बपौती साथ सँजोए हुए साहित्यपरंपरा की दीपशिखा का प्रकाश फैलाती आ रही है। साहित्य की दिशा में इसका अतीत स्वर्णमय है। विशेषकर यह भूभाग संस्कृत साहित्य का केंद्र रहा है। स्थानीय संस्कृत साहित्यकारों की परंपरा के संदर्भ में प्रतीत होता है कि जंबूपति महाराज ब्रजराज देव के युग से संस्कृत वाङ्मय का यह प्रवाह महाराज रणवीर सिंह के युग तक अविच्छिन्न रहा है। महाराज ब्रजराज देव के पूर्व की ऐतिहासिक कड़ी उपलब्ध नहीं होती. किंतु उस युग से संबंधित संस्कृत साहित्य की यह ऐतिहासिक शृंखला रणवीर सिंह के युग से मोड़ खाती हुई, अन्य जंबू शासकों के युगों को भी अपने साथ सँजो कर वर्तमान युग तक पहुँचती है। महाराज ब्रजराज देव का समय संवत् १८०० से प्रारंभ होकर १८४३ तक चलता है जैसा कि उनके दरबारी कवि दत्त ने संस्कृत छंदों में लिखे हुए अपने कृष्ण महिम्न स्तोत्र में स्पष्ट लिखा है —

नागदग्गज भू संख्ये (१८२८) वर्षे विक्रम भूपतौ,
स्तवोऽयं कृष्ण जन्माहे दत्ते नानापि पूर्णताम् ॥

महाराज ब्रजराजदेव संस्कृत के महान अनुरागी थे। जंबू से निराश होकर वे मनावर में जा बसे। परंतु वहां भी संस्कृत के प्रेम का संवरण नहीं कर पाए और दत्त तथा गंगाराम जैसे संस्कृत कवियों को उन्होंने यहीं पर रहते हुए अपने दरबार में आश्रय दिया। ब्रजराजदेव जंबू के प्रतापी राजा रणजीत देव के पुत्र थे। किंतु रणजीत देव अपने छोटे पुत्र दलेल सिंह को अधिक चाहते थे। राजदरबार में अपने प्रति पिता की उपेक्षा देखकर ब्रजराज रूठकर मनावर में रहने लगे। इधर दलेल सिंह राज्य के सर्वेसर्वा रहे, परंतु रणजीत देव के अंतिम दिनों में जसरोटे का राजा स्वेच्छाचारी बन बैठा। रणजीत देव ने उसका दमन करने के लिये दलेल सिंह को अखनूर राज्य के कुछ अधिकारियों के साथ जसरोटे की ओर भेजा। वहाँ पर अखनूरियों के साथ उसकी टक्कर हुई। अंत में किसी दूसरे समय अखनूरियों ने दलेल सिंह को भगा दिया, जिससे रणजीत सिंह की मृत्यु के पश्चात् ब्रजराज मनावर से आकर जंबू की राजगद्दी पर आसीन हुए। अपने पिछले लंबे प्रवास के समय

ब्रजराजदेव ने संस्कृत साहित्य की जो सेवा की उसका पूर्ण विवरण तो नहीं मिलता, किंतु उपर्युक्त दो संस्कृत कवियों को प्रोत्साहित करते हुए उन्होंने इस परंपरा को अग्रसर किया। संस्कृत के ये दोनों कवि दत्त तथा गंगाराम उस युग के प्रसिद्ध साहित्यकार थे। इनकी कई रचनाएँ भी होंगी जो अनुपलब्ध हैं। किंतु दत्त रचित 'कृष्ण महिम्न स्तोत्र' तथा गंगाराम रचित 'मामल्लाष्टक, अब भी विद्याविलास प्रेस से छपे हुए यत्रतत्र मिल जाते हैं। श्री कृष्णाष्टक पर कवि ने स्वयं संस्कृत टीका भी लिखी है जो उनके व्याख्या-चातुर्य का परिचय देती है। श्लोक सब के सब शिखरिणी छंद में लिखे गए हैं और इनकी संख्या ३२ है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत कवि की दो और फुटकल कविताएँ मिलती हैं जो प्रातः-सायं कृत्य से संबंधित हैं। ये दोनों कविताएँ भी श्री कृष्णाष्टक के अंत में पृथक रूप से छाप दी गई थीं।

श्री गंगाराम रचित मामल्लाष्टक के आठ श्लोक महाराज रणवीर सिंह के दरबारी विद्वान एवं हिंदी कवि श्री नीलकंठ रचित 'कीर्तिविलास' में उद्धृत हैं। इस समय इन दोनों कवियों की मात्र उपर्युक्त रचनाएँ ही ही उपलब्ध हैं। वे भी ८०-९० वर्ष पुराने प्रकाशन में छिपी पड़ी हैं। किंतु इन रचनाओं द्वारा ही हम डुग्गर धरती की संस्कृत परंपरा की एक *शृंखला* तैयार कर सकते हैं। इसलिये इतिहास के लिये ये रचनाएं और इनके रचयिता एक विशेष कड़ी हैं।

ब्रजराज के पिता रणजीत देव एक कुशल शासक, सुप्रबंधक तथा विद्याव्यसनी थे। उनके शासनचातुर्य के कारण जंबू प्रदेश धनधान्य संपन्न होकर उन्नति की चोटी पर पहुँचा तथा इसकी सीमा लाहौर के शाहादरे के साथ आ लगी।

राजा ब्रजराज ने भी अपने राज्यकाल में धरती का गौरव पूर्ववत् कायम रखा। किंतु पंजाब के महाराजा रणजीतसिंह के पिता महानसिंह ने इसी समय जंबू पर आक्रमण कर दिया। ब्रजराजदेव ने स्वल्प साधनों के रहते हुए भी बहादुरी से सामना किया और अंततक लड़कर सं० १८४३ में युद्धक्षेत्र में वीरगति प्राप्त की। इस समय जंबू के आकाश पर लूटपाट और अग्निदाह का तूफान उमड़ा हुआ था। जंबू पूर्ण रूप से उजड़ चुका था। ऐसी राजनैतिक उथल पुथल की परिस्थिति की लपेट में आकर ब्रजराजदेव द्वारा प्रज्वलित संस्कृत साहित्य का दीपक कुछ काल के लिये धुँधला अवश्य पड़ गया, जो महाराजा गुलाबसिंह के युग तक धीमा प्रकाश देकर पुनः चमकने लगा।

ब्रजराजदेव का दसवर्षीय बालक युद्ध की लपेट में आ चुका था। वे निस्संतान होकर स्वर्ग सिधारे थे अतः जसरोटे के राजा जैतसिंह, जो दलेलसिंह का

लड़का था अर्थात् ब्रजराजदेव का भतीजा था, को बुलाकर जंबू की गद्दी पर बैठाया गया और सूरजसिंह के लड़के मियाँ मोटासिंह को राज्यप्रबंधक नियुक्त किया गया। इस दौरान संस्कृत साहित्य का दीपक किसी प्रकार जलता रहा।

सूरतसिंह के चार लड़कों में एक जोरावरसिंह था जिसके पुत्र किशोरसिंह के यहाँ महाप्रतापी गुलाबसिंह का जन्म हुआ। सूरतसिंह ध्रुवदेव का पुत्र तथा रणजीत-देव का भाई था।

जैतसिंह भी संस्कृत के बड़े प्रेमी थे, किंतु इनका जीवन भी युद्ध में ही व्यतीत हुआ। कारण लाहौर से बार बार आक्रमण हो रहे थे जिनका सामना ब्रजराजदेव ने अंतिम वर्षों तक वीरतापूर्वक किया। युद्ध की यही विरासत जैतसिंह को भी मिली। किंतु स्वाभिमानी डोगरा शासक अपने रक्त की अंतिम बूँद रहने तक लड़ता रहता है। जैतसिंह ने भी इस व्रत का पालन किया। युद्ध की इस भूमिका में संस्कृत साहित्य के उत्थान को बहुत चोट पहुँची। जैतसिंह के समय संस्कृत के एक ऐसे चमत्कारी विद्वान पैदा हुए जिन्होंने अपने प्रकांड पांडित्य से न केवल डुग्गर को बल्कि काशी को भी चमत्कृत कर दिया। वे थे पं० काकाराम जी शास्त्री जो वेदवेदांग, दर्शन, पुराण, व्याकरण आदि विषयों के पूर्ण-पंडित होकर काशी गए। वहाँ के प्रसिद्ध विद्वान्, शेखर के टीकाकार भैरवमिश्र गौड़-पाद जैसे विद्वानों से शास्त्रार्थ करके उन्हें चमत्कृत किया। पं० काकाराम शास्त्री ने इतना विशाल पांडित्य इसी डुग्गर धरती पर प्राप्त किया था। इससे स्पष्ट है कि उस युग में यहाँ का संस्कृत पठनपाठन का स्तर काशी के स्तर से कम न होगा, और यह स्तर राजाश्रय से पोषण पाकर ही इतनी उच्चता पर पहुँचा। पं० काकाराम शास्त्री को काशी की पंडित मंडली में उच्च स्थान प्राप्त हुआ। अंत में ८० वर्षों की अवस्था में उन्होंने वहां के मणिकर्णिका घाट पर अपना शरीर छोड़ा। इनकी शिष्य परंपरा आज भी वहाँ चलती आ रही है। इनका समय संवत् १८२३ से १६०७ तक के लगभग पड़ता है। इनकी कोई रचना उपलब्ध नहीं होती।

जंबू प्रदेश परंपरा से संस्कृत का गढ़ रहा है। इस प्रदेश में संस्कृत के अनेक ग्रंथ लिखे गए थे। किंतु कोई इतिहास न होने के कारण आज हमें इस संबंध में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती। केवल एक ही ऐसा पहलू है, जिसके द्वारा प्राग् गुलाबसिंह युग के संस्कृत क्षेत्र की समृद्धि के संबंध में हमें कुछ उन्मेष मिलते हैं। ये स्रोत हैं—स्थानीय संस्कृत हस्तलेखों का विशाल भांडार जिसे महाराज रणवीर सिंह ने उपलब्ध कर रघुनाथ मंदिर के पुस्तकालय में सुरक्षित रखा था। किसी स्थान पर संस्कृत लेखों को इतनी बड़ी राशि का मिलना ही उस स्थान की परंपरा की समृद्धि का सूचक है। महाराज रणवीरसिंह का युग

संस्कृत साहित्य के लिये इस राज्य में स्वर्णयुग था। इसी युग में महाराज के प्रयत्नों से बहुत सा भाग प्रकाशित भी हुआ। बड़े बड़े विद्वान् बंधु आकर राजकीय छत्रछाया में रहकर सरस्वती की उपासना करने लगे। प्राचीन हस्तलेखों का संग्रह भी हुआ : इन संगृहीत हस्तलेखों के निर्माण में कितनी शताब्दियाँ बीती होंगी और भिन्न भिन्न राजाओं ने इस कार्य में कितना प्रोत्साहन दिया होगा, यह बात स्वयं समझने की है। दूसरा तथ्य यह भी है कि महाराज रणवीर सिंह का संस्कृत के प्रति अगाध अनुराग कुछ तो उनकी व्यक्तिगत विशेषता थी और कुछ उन्हें अपने पूर्वजों की विरासत के रूप में यह अनुराग मिला था जो उनकी बाल्यावस्था में ही उनके साथ जुड़ गया।

डुग्गर प्रदेश का हस्तलेख युग डुग्गर राजवंशावलि के साथ साथ चलता आया है। महाराज गुलाबसिंह के युग तक यह निर्माणकाल ढेरों ग्रंथ तैयार कर चुका था। इस लिखित साहित्य के विषय निम्नलिखित हैं—

वेद, सूत्र, उपनिषद्, वेदांग, व्याकरण, कोष, छंद, संगीत, काव्य, नाटक, आख्यायिका, धर्मशास्त्र, दर्शन, ज्योतिष, चिकित्सा, जैन दर्शन आदि। आज इन विषयों के हजारों हस्तलेख रघुनाथ पुस्तकालय में सुरक्षित है। इनमें कुछ ऐसे ग्रंथ हैं जो संस्कृत साहित्य की अमूल्य अप्रकाशित संपत्ति हैं। उनमें से कुछ एक के नाम यहां गिना देना आवश्यक होगा—

रघुनाथगुणोदय महाकाव्य, धर्मशास्त्रसंग्रह, नीतिकल्पलता, पूजारहस्य, वीर रत्नशेखर शिक्षा; संक्षिप्ताह्निकपद्धति, स्त्रीधर्मनिर्णय, ब्रह्मसूत्रवृत्तिसार, एकाक्षर निघंटु, कल्पसागर, रणवीरसिंह सदाचाररत्नाकर, रणवीर संगीतमहोदधि, रणवीर प्रायश्चित्तप्रकाश, रणवीरज्योतिर्महानिबंध, रणवीरवृत्तरत्नाकर, रणवीर चिकित्साप्रकाश।

उपर्युक्त हस्तलेखों के अंतिम ग्रंथ जो रणवीर नामस्मरण से युक्त हैं उन्हें रणवीरसिंह ने विद्वन्मंडली द्वारा रचाया था। इनके प्रकाशन की व्यवस्था उस समय के विद्याविलास प्रेस में किसी कारणवश नहीं हो पाई होगी। किंतु कुछ प्रकाशित भी हो गए थे। शेष हस्तलेख रणवीर सिंह के युग से अतीव प्राचीन हैं। इन संगृहीत हस्तलेखों का पूर्ण विवरण भी स्टाईन के कैटेलाग में प्रस्तुत किया गया है। किंतु दुर्भाग्यवश यह कैटेलाग भी अब अप्राप्य है। रघुनाथ पुस्तकालय में इसकी एक प्रति है जो जीर्ण शीर्ण दिशा में मिलती है। धर्मार्थ ट्रस्ट को चाहिए कि वह इसे पुनर्मुद्रित करे। यह एक अपूर्व कैटेलाग है, जो प्रा० सं० हस्तलेखों का विवरण सहित पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने में निर्देशक का कार्य करता है। ब्रजराजदेव का युग भी संस्कृत भाषा के लिये स्वर्णयुग था। दत्त कवि के एक श्लोक से विदित होता है कि महाराज को प्रसन्न करने के लिये

संस्कृत के कवि अपना कविकौतुक दरबार में प्रदर्शित करके उनकी कृपा का प्रसाद पाने का प्रयत्न करते थे। इस प्रकार राजाश्रय से संस्कृत कविता भी पनप रही थी। श्लोक इस प्रकार है—

आर्जवादिगुणैर्युक्ता सद्वृत्तिस्स्वपदक्रमा।
सतीव कवितेयं मे व्रजराज मुदेऽस्तु वः॥

इसी समय लगभग १८१२ में मनावर के सुकराल नामक गाँव में देवी प्रकट हुई। उसके आस्थान की प्रतिष्ठा महाराज व्रजराजदेव ने धूमधाम से की। इसमें कवि गंगाराम एवं दत्त तथा उस युग के प्रसिद्ध कर्मकांडी, तांत्रिक एवं संस्कृत के प्रकांड पंडित श्री सूर्यनारायण जैसे उपस्थित थे। कुलपंडित होने के नाते आचार्य सूर्यनारायण ने ही मंदिर की प्रतिष्ठा कराई थी। यह धार्मिक दृश्य भी उस युग की संस्कृतोन्नति का एक संकेत है। मूर्ति स्थापित होने के बाद ही कवि गंगाराम ने 'मामल्लाष्टक' की रचना संस्कृत छंदों में की, मामल्लदेवी का नाम सुकराल गाँव में स्थापित होने के कारण सुकराला देवी पड़ गया, जो आजकल इसी नाम से प्रसिद्ध है।

संस्कृत भाषा के गढ़ मुख्य रूप में भारतीय तीर्थ रहे हैं। इन्हीं स्रोतों से निकलकर संस्कृत सरिता की धाराएँ समग्र देश में बहती रहीं। प्रयाग, अयोध्या, काशी, मथुरा, हरिद्वार, द्वारका आदि तीर्थ आदि काल से संस्कृत के केंद्र रहे हैं और आज भी हैं। प्रायः संस्कृत विद्वानों तथा मनीषियों को स्वभावतः तीर्थ-स्थान का निवास अभीष्ट रहता था। इन तीर्थों की शृंखला में महाभारत के अनुसार जंबू प्रदेश भी आ जाता है। इसी कारण यह भूमि विद्वानों और ऋषि मुनियों का निवास स्थान रही है। महाभारत के वन पर्व (अध्याय ४०, श्लोक ८२) के एक श्लोक से यह स्पष्ट है—

जम्बूमार्गं समाविश्य देवर्षि पितृ सेवितम्।
अश्वमेधमवाप्नोति सर्वकाम समन्वितः॥

जंबू मार्ग में प्रवेश करने से मनुष्य अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त करता हुआ सब कामनाएँ प्राप्त करता है। यह जंबूमार्ग देवर्षि और पितरों से सेवित है। इस उद्धरण में जंबूमार्ग देवर्षि और पितरों का निवासस्थान होने के कारण संस्कृत भाषा का केंद्र स्वयं सिद्ध है। इस जंबू मार्ग का निर्देश निरुक्त के प्रसिद्ध प्राचीन टीकाकार आचार्य दुर्गाचार्य ने निरुक्त टीका की अध्यायसमाप्ति पर लिखा है—इति श्री जंबूमार्गाश्रमवासिनो भगवद्दुर्गाचार्यस्य कृतौऋज्वर्थायां निरुक्त वृत्तौ। आचार्य दुर्गाचार्य जो लगभग पंद्रहवीं शताब्दी के मध्य में हुए थे, अपना परिचय जंबू

मार्ग निवासी के रूप में देते हैं। उस समय अर्थात् संवत् १४५० के आस पास महाराज माल देव जंबू की गद्दी पर विराजमान थे। राजा मालदेव की वीरता की कहानियां प्रसिद्ध है। ये बड़े बड़े वृक्षों को हाथोंहाथ उखाड़ फेंकते थे और बड़ी बड़ी चट्टानों को उठाकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाते थे। दुर्गाचार्य इन्हीं के समकालीन या कुछ आगे पीछे रहे होंगे। दुर्गाचार्य का धुरंधर पांडित्य और उसका अखिल भारतीय स्तर पर कीर्तिकलाप जंबूमार्ग की ही देन समझनी चाहिए। मालदेव या उसके पुत्र हमीर किसी के भी राज्यकाल में दुर्गाचार्य रहे हों किंतु उन्हें राज आश्रय या राजसंमान अवश्य मिला होगा, इसलिये प्राचीन संस्कृत पांडित्य सर्वदा राज दरबारों के पोषण में रह कर ही विकासित होता रहा। यहाँ की राजपरंपरा ने दुर्गाचार्य जैसे अन्य संस्कृत महारथी भी उत्पन्न किए होंगे। किंतु दुर्भाग्यवश आज उनके संबंध में हमें कुछ संकेत प्राप्त नहीं हैं।

ब्रजराजदेव के युग को पार कर जब हम आगे चलते हैं तो राजा जैतसिंह का युग आता है। यह स्वल्पकालीन युग संस्कृतप्रचार की दृष्टि से विशेष नहीं मालूम पड़ता क्योंकि इस युग में मियाँ डीडो का आतंक मचा हुआ था और उसे दबाने के लिये जंबू सिंहासन परेशान था। महाराज गुलाब सिंह, जो उस समय महाराज रणजीत सिंह के दरबार मे उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित थे, ने जंबू आकर इस परेशानी को मिटाया और संस्कतप्रचार के लिये मार्ग प्रशस्त किया। श्री गुलाब सिंह जी कैसे महाराज बने, उन्होंने कैसे जंबू कश्मीर, लद्दाख, तिब्बत आदि के समन्वय से एक वृहत् राज्य की स्थापना की यह एक पृथक् ऐतिहासिक विषय है। सं० १६६५ (ई० १८०६) में महान सिंह ने जंबू पर पहली चढ़ाई की, जंबू के राजा जैत सिंह ने गुमट ढक्की पर सेना संगठन किया और द्वार कुछ देर के लिये बंद कर दिया। चौदह वर्ष के बालक ने द्वार खुलवा कर सेना की टुकड़ी साथ लेकर विशाल शत्रु समूह को वीरता के साथ तवी के जंगलों के उस पार खदेड़ दिया। वीरता के इस अद्भुत चमत्कार को सुनकर महाराज रणजीत सिंह ने गुलाब सिंह को लाहौर दरबार में बुला लिया। तभी से गुलाब सिंह ने अपने शौर्य और राजनीतिज्ञता के बल पर उन्नति प्रारंभ की। निरंतर युद्धों में विजय पाकर गुलाब सिंह ने लाहौर दरबार को अत्यंत प्रसन्न कर लिया। सन् १८२२ ई० में जंबू का राज्य मिल गया, किंतु पूर्ण स्वतंत्रता नहीं, जंबूपति बन कर भी उसे रणजीत सिंह के आज्ञानुसार युद्धों मे जाना पड़ता था, इधर जंबू का राज्य पाकर गुलाब सिंह ने इस प्रांत के छोटे मोटे राज्य जीतकर राज्य की सीमा बनिहाल पर्वत तक पहुँचा दी। तत्पश्चात् लद्दाख और कुछ भाग तिब्बत का जीत लिया। रणजीत सिंह की मृत्यु के

पश्चात् कुछ वर्षों के अनंतर जब पंजाब प्रांत अंग्रेजों के हाथ पड़ गया तो सन् १८४६ में गुलाब सिंह ने अंग्रेजों को ७५ लाख रुपये देकर कश्मीर भी ले लिया। इस प्रकार जंबू, कश्मीर, लद्दाख, तिब्बत का समन्वय करते हुए गुलाब सिंह ने बृहत् राज्य की रचना की। अंग्रेजों ने उसे स्वतंत्र राजा सन् १८४६ में घोषित कर दिया था। इन बारह वर्षों के राज्य काल में अर्थात् सन् १८४६ से १८५८ तक गुलाब सिंह का जीवन युद्धों में ही बीतने के कारण उसे संस्कृत की उन्नति के लिये समय नहीं मिला। किंतु महाराज रणवीर सिंह के साहित्यिक स्वर्णयुग की मूल पृष्ठभूमि के प्रतिष्ठापक गुलाब सिंह ही थे इसमें संदेह नहीं।

दृढ़ धार्मिक होने के नाते उन्होंने उत्तरवाहिनी में गदाधर का विशाल मंदिर सं० १८९८ में बनवाया, जिसके साथ एक संस्कृत पाठशाला, गौशाला तथा सदावर्त की भी स्थापना की। संस्कृत की दिशा में पुनः नए सिरे से यह आयोजन अपने ढंग का प्रथम था। इसी प्रकार उत्तरवाहिनी के आस पास अविमुक्तेश्वर, रणवीरेश्वर आदि कई मंदिरों का निर्माण किया गया। गदाधर संस्कृत पाठशाला में सांगवेद, व्याकरण, ज्योतिष, तथा षट्दर्शनों का अध्यापनकार्य होता था। इसके लिये भारत भर के चुने हुए विद्वान् बुलाये गए। डोगरा भूमि के गरयमान्य विद्वानों को भी इस संस्था में नियुक्त किया गया।

५०० सौ छात्रों के लिये भोजन, अध्ययन तथा आवास का निःशुल्क प्रबंध किया गया। महाराज गुलाबसिंह के इस प्रतिष्ठान ने उत्तरवाहिनी को संस्कृत भाषा का केंद्र बना दिया। इस आयोजन के फलस्वरूप संस्कृत भाषा का देश भर में जिस गति से प्रचार हुआ उसका अनुमान स्वयं किया जा सकता है। इसी प्रकार गुलाबसिंह ने जंबू के प्रसिद्ध रघुनाथ मंदिर की निर्माणशिला लगभग सन् १८५५ में रखी थी। उसके साथ बृहत् संस्कृत विद्यालय, छात्रावास, छात्रों के लिये भोजनव्यवस्था, सदावर्त आदि की योजना भी साथ थी जिसे रणवीर सिंह ने अपने राज्यकाल में परिपूर्ण किया।

महाराज रणवीरसिंह

राज्य में संस्कृत का स्वर्णकाल स्थापित करनेवाले महाराज रणवीरसिंह का जन्म सन् १८२६ में जंबू के रामगढ़ स्थान पर हुआ था। महाराज गुलाबसिंह के छोटे भाई सुचेतसिंह ने इन्हें गोद लिया था। इसी कारण इनका बचपन उन्हीं की जागीर में बीता। गुलाबसिंह के महल में विद्वत्ता और धार्मिकता दोनों को प्रश्रय

मिला था। इसी कारण दरबारी विद्वानों का प्रभाव तथा संस्कार इनपर बचपन में ही पड़ा होगा। १३ वर्षों की उमर तक राजा सुचेतसिंह के पास रहकर अब रणवीरसिंह अपने पिता महाराज गुलाबसिंह के पास आगए। महाराज रणवीरसिंह का व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक था। सर रिचर्ड अपनी डायरी में लिखते हैं कि रणवीरसिंह के नक्श अति सुंदर थे। विशाल मस्तक, सीधी नाक, छोटी स्याह तथा घुंघराली दाढ़ी, गोटेदार पगड़ी, माथेपर तिलक, गले में सुंदर माला, सफेद पोशाक और छाती पर शासक का तमगा, यह था उनका स्वरूप।

गद्दी पर बैठने पर इन्हें अपने विरुद्ध एक बड़ी भारी साजिश का भी सामना करना पड़ा, जो बाद में कुचल दी गई। सर लारेंसर, फ्रेडरिक, करी आदि अंग्रेज अधिकारियों के विचार रणवीरसिंह के प्रति बड़े श्रद्धापूर्ण रहे हैं। इन लोगों ने समय समय पर रणवीरसिंह के संपर्क में आने का अवसर प्राप्त किया था।

महाराज गुलाबसिंह के घरेलू जीवन में संस्कृत के पांडित्य और सनातन धार्मिकता को पूरा प्रश्रय मिला था। महलों में आस्तिकता, कर्मकांड और जप, तप, व्रत आदि की पूर्ण प्रतिष्ठा थी। अगर विज्ञान से जीवन को सभ्यता मिलती है तो धर्म से संस्कृति। संस्कृति का उद्गम धर्म होने के कारण धार्मिक लोग संस्कृति प्रधान होते हैं। यह संस्कृति डोगरा शासकों की परंपरा रही है। डुग्गर जाति में वैदिक एवं पौराणिक धार्मिकता की देन अति प्राचीन है। तलवार और लेखनी का गठजोड़ इस जाति में परंपरा से पाया जाता है। इसी कारण रणवीरसिंह को महलों के इस धार्मिक वातावरण ने अपनी परंपरा प्रदान की। राजकीय विद्वानों से संस्कृत साहित्य के अनुराग का संस्कार मिला। जहाँ महाराज गुलाबसिंह युद्धों में उलझे हुए थे, वहाँ राजकुमार रणवीरसिंह अपना राजकुमारसुलभ ऐश्वर्य एवं कोमलता का जीवन महलों में बिता रहे थे। जीवन की इस एकांत निष्ठा तथा एकाग्रता में इन्होंने इन पवित्र संस्कारों को आत्मसात् कर लिया था।

सन् १८५७ में राज्य की बागडोर सँभालते ही सर्वप्रथम महाराज रणवीर सिंह को संस्कृत प्रचार की धुन लगी। थोड़े ही वर्षों में उन्होंने संस्कृत-क्षेत्र में अपने राज्य को दूसरी काशी बना दिया। इस स्थिति पर मुग्ध होकर उस युग के प्रसिद्ध संस्कृत कवि चंडीदास ने इस श्लोक में अपने उद्गार प्रकट किए थे—

विद्वद्भिः सर्वदेशीयैः सर्वशास्त्रविशारदैः।
कृता काशी पुरी येन श्री जम्बू नगरोयमा॥

महाराज रणवीरसिंह ने संस्कृत के विकास तथा प्रचार के लिये मुख्य रूप से चार प्रकार निश्चित किए थे—

१. पुस्तकालयों में मुद्रित पुस्तकों के साथ प्राचीन हस्तलेखों के भंडार स्थापित किए गए।

२. मंदिरों की स्थापना जिनमें संस्कृत का पठनपाठन होता था और पाठशालाएँ स्थापित की जाती थीं।

४. भारत के भिन्न भिन्न प्रांतों से संस्कृत के प्रकांड पंडितों को राज्य में बुलाकर संमानपूर्वक जीविका प्रदान की जाती थी।

५. संस्कृत पुस्तकों का प्रकाशन, जिसके अंतर्गत स्थानीय विद्वन्मंडली द्वारा रचे गए नए नए संस्कृत ग्रंथों का प्रकाशन होता था।

पाठशालाएँ—इस कार्यक्रम के अंतर्गत सन् १८५८ में रघुनाथ मंदिर की प्रतिष्ठा हुई और तभी श्री रघुनाथ संस्कृत महाविद्यालय की स्थापना की गई। इस प्रकार संस्कृत के प्रचारार्थ ५०० विद्यार्थियों के लिये निवास और भोजन की व्यवस्था भी की गई। इसी स्तर पर उत्तर वाहिनी संस्कृत विद्यालय का भी नया संगठन किया गया और वहां के छात्रों की संख्या भी ५०० रखी गई। इन दोनों विद्यालयों में वेद, वेदांग, ज्योतिष, व्याकरण, चिकित्सा, दर्शन आदि विषयों के पृथक् पृथक् विभागीय स्तर पर विद्वानों की नियुक्तियाँ की गईं। इसके अतिरिक्त राज्य भर में छोटी छोटी अन्य संस्कृत की पाठशालाएं भी स्थापित की गईं। उन सबके मुख्य केंद्र उपर्युक्त दो महाविद्यालय ही थे। रणवीर सिंह की महारानी चंद्रहाली ने भी संवत् १८४६ में पुराणी मंडी मंदिर का निर्माण करवाकर वहां एक संस्कृत पाठशाला स्थापित की जिसमें ५० विद्यार्थियों के निवास तथा भोजन की व्यवस्था की गई। यह पाठशाला तब से प्रारंभ होकर सन् १६३७ तक चलती रही। इस पाठशाला से अनेक संस्कृत विद्वान पैदा होकर राज्य भर में भागवत सप्ताह तथा ज्योतिष, कर्मकांड आदि की प्रौढ़ योग्यता द्वारा यश कमाने लगे। उनमें प्रसिद्ध पं० हाकिमचंद्र शास्त्री थे जिनकी श्रीमद्भागवत में अगाध गति थी। उनके श्रीमद्भागवत सप्ताह में इतना आकर्षण था कि श्रोता इनकी सुरीली कंठध्वनि और श्लोकों की मार्मिक व्याख्या सुनकर सब कुछ भूल जाते। अपने समय में इस क्षेत्र में इनकी बड़ी प्रसिद्धि रही। इसी प्रकार उपर्युक्त दो बड़े महाविद्यालयों से अन्य धुरंधर विद्वान् पैदा होकर देश विदेशों में इस डुग्गर देश की यशपताका फहराने लगे।

प्राचीन हस्तलेख—इस समय रघुनाथ पुस्तकालय में लगभग ४५०० प्राचीन हस्तलेख संगृहीत हैं, जो महाराज रणवीर सिंह ने बड़े परिश्रम से इकट्ठे कराए थे। इसके लिये उन्होंने पं० आशानंद को काशी भेजा और १५००० रुपए खर्च कर सैकड़ों संस्कृत हस्तलेख वहाँ से प्राप्त किए। अपने राज्य में भी

खोज की गई और सैकड़ों पांडुलिपियां यहां से भी उपलब्ध की गईं। इसी प्रकार विद्यानाथ पाठक (काशी), पं० व्यास (पटियाला), पं० रामकृष्ण (जंमू), गोपाल राम (जंमू) से भी पर्याप्त धन देकर संस्कृत हस्तलेख खरीदे गए। तत्पश्चात् राजस्थान के एक राजा मंगल सिंह ने भी अपना हस्तलेख भंडार यहीं भेज दिया। इस प्रकार मिलाजुलाकर ४५०० सौ के लगभग पांडुलिपियों का यह संग्रह रघुनाथ पुस्तकालय में रखा गया। यह संग्रहकार्य सन् १८६० के लगभग प्रारंभ होकर १८८३ तक चला। १८८५ में महाराज रणबीरसिंह की मृत्यु के बाद महाराज प्रतापसिंह गद्दी पर बैठे। इनके राज्य-काल में ही मिं० स्टाईन को जंमू बुलाया गया। उन्होंने सन् १८८९ से १८९३ तक इन हस्तलेखों की एक बृहद् सूची तैयार की। इसी समय पंडितराज काक, बलभद्र काक, साहिब राम आदि कश्मीरी विद्वानों ने कश्मीर घाटी से भी बहुत से लेख प्राप्त करके इस पुस्तकालय को दिए। डा० स्टाईन उस समय लाहौर विश्वविद्यालय के ओरियंटल कालेज के प्रिंसिपल थे। इस कार्य के लिये उन्हें गोविंद कौल तथा सहज भट्ट नामक दो सहायक दिए गए तथा छः प्रतिलिपिकार। इस संग्रह में बड़े अमूल्य संस्कृत हस्तलेख हैं। इनमें से एक प्राचीन हस्तलेख डा० ब्लूम फील्ड के हाथ पड़ गया था जिसकी फोटो कापी लेकर उन्होंने उसे इंग्लैंड में जाकर छपवाया।

संस्कृत पुस्तक प्रकाशन—इस कार्य के अंतर्गत महाराज रणबीरसिंह ने दूर दूर के विद्वानों को बुलवाकर अपनी सभा में रखा तथा संस्कृत के भिन्न भिन्न विषयों पर उनसे ग्रंथ लिखाए। विस्तारभय से प्रत्येक निर्मित तथा प्रकाशित ग्रंथ की सूची मात्र नीचे दी जाती है—

१	अथर्ववेद संहिता—पैप्पलाद शाखीया		हस्तलेख
२	अमरकोष हिंदी भाषा सहित		,,
३	अमरकोषनाममाला—हिंदी-लद्दाखी भाषानुवाद सहित		,,
४	एकाक्षर निघंटु		,,
५	कल्पसागर	निर्मित	,,
६	चित्तप्रदीप	संपादित	,,
७	जातक गणित स्कंध संग्रह	संपादित	,,
८	जातक फल स्कंध	,,	,,
९	जातक संग्रह	रचित	,,
१०	तर्कसंग्रह व्याख्या	,,	,,
११	दशभाषोदय कोष		,,

१२	ताजिक संहिता	संपादित	„
१३	दुर्गाक्रमणी रीतिः		„
१४	धनंजयविजय—डोगरी भाषानुवाद		„
१५	धर्मशास्त्रसंग्रह	संपादित	„
१६	नीतिकल्पलता (साहिराम)	रचित	„
१७	पंचनायकविवरण „	„	„
१८	पूजा रहस्य सटीक	„	„
१९	श्रीमद्भागवत गीता टीकाविंशतिः	संपादित	„
२०	भावप्रकाश टीका	संपादित	„
२१	भाषाकोष	„	„
२२	मार्कंडेयपुराणाख्यान	„	„
२३	रघुनाथ गुणोदय	रचित	„
२४	रणवीर संगीतमहोदधिः	„	„
२५	रणवीर सदाचाररत्नाकर	„	„
२६	विषहर तंत्र (सं० १८०१) गनेशशास्त्री		„
२७	वीररत्नशेखरशिखा—चिकित्सा ग्रंथ	अनुवाद	„
२८	वीर वैद्यरत्नहार टीका (साहिबराम)—चिकित्साग्रंथ	„	„
२९	संक्षिप्ताह्निक पद्धतिः	रचित	„
३०	स्त्रीधर्म निर्णय	„	„
३१	फौज के लड़ाने की किताब	„	„

उपर्युक्त कुछ प्रधान हस्तलेखों का प्रदर्शन हो चुका है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य प्रधान ग्रंथ ऐसे हैं जो महाराज रणवीरसिंह ने विद्वानों से बनवाकर तथा संपादित करवाकर विद्याविलास प्रेस से छपवाए थे। उनके मुख्य-मुख्य नाम ये हैं—

१—गीतापंचरत्न, २—धातुरूपावली, ३—नाचिकेतोपाख्यानम्, ४—मंत्ररामायणम्, ५—रणवीरचिकित्साप्रकाश, ६—रणवीर चिकित्सासुधार, ७—रणवीरज्योतिर्महानिबंध, ८—रणवीरप्रायश्चितप्रकाश, ९—वर्णमाला, १०—सेनाशिक्षा, ११—रणवीरदंडविधान, १२—रणवीरव्रतरत्नाकर, १३—रणवीर भक्ति रत्नाकर १४—कुछ धर्मशास्त्र संबंधी संपादित पुस्तकें। रणवीरसिंह ने मुँह माँगा वेतन देकर बड़े बड़े योग्य विद्वानों को राज्य में लाकर रखा था। डोगरे संस्कृत विद्वान भी चुन चुनकर इस राजकीय पंडितमंडली में रखे गए थे, उनमें से कुछ प्रसिद्ध विद्वानों के नाम ये हैं—

१-पं० गोपालराम, २-नव्यचंडीदास, ३-पं० दीनानाथ, ४-पं० विश्वरूप ५-पं० निधिपति, ६-पं० नीलकंठ, ७-पं० गणेश दैवज्ञ, ८-पं० महेश, ९-पं० विश्वेश्वर दैवज्ञ, १०-पं० सर्वेश्वर, ११-काशीनाथ शास्त्री, १२-पं० गोकुलचंद्र, १३-पं० गंगाधर, १४-गोविंदाचारी।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि महाराज रणवीर सिंह का युग संस्कृत क्षेत्र में सब युगों से महान है। सन् १८८५ में रणवीरसिंह की मृत्यु के पश्चात् उनके बड़े सुपुत्र श्री प्रताप सिंह जंमू कश्मीर की राजगद्दी पर बैठे। इन्होंने भी अपने पितृपाद द्वारा जलाया गया संस्कृत दीपक उसी प्रकार प्रज्वलित रखा तथा संस्कृत पुस्तक प्रकाशन की दिशा में महान् कार्य किया। इनके समय में जंमू कश्मीर अनुसंधान विभाग की ओर से लगभग १०० हस्तलेखों का प्रकाशन हुआ जिनका विवरण विस्तारभय से यहां नहीं दिया जा रहा है। इसके अतिरिक्त महाराज प्रतापसिंह ने पूजापाठ, कर्मकांड और यज्ञ, तप, दान तथा संस्कृत विद्वानों के संमान में काफी योगदान दिया। इनके युग में विद्वानों की प्राचीन परंपरा तथा संस्कृत के उत्कट पांडित्य का बड़ा पोषण होता रहा और संस्कृत का उपयोग साधारण जनता तक फैला। ९० वर्ष पुराना एक विज्ञापन पत्र मेरे हाथ लगा था, जिसमें श्रीमद्भागवत सप्ताह के होने की सूचना आम जनता के नाम प्रसारित की गई थी। विज्ञापनपत्र संस्कृत में छपा था जिसका पहला पद्य इस प्रकार है **भविष्यति कथा चात्र आगंतव्यम् महाशयैः** तथा इसके नीचे गद्य में लिखा था—**एषा सूचना ग्रामे ग्रामे नगरे नगरे परिप्रेषणीया**। इस युग में संस्कृत विद्या का वह स्तर जीवित ही नहीं रहा बल्कि उसमें और नई उपलब्धियाँ जुड़ीं।

सन् १९२५ में महाराज प्रताप सिंह का देहावसान होने पर महाराज हरि सिंह जंमू कश्मीर की राजगद्दी पर बैठे। इनके युग में भी रणवीर संबंधी संस्कृत परंपरा कायम रही। किंतु नए युग के अंग्रेजी प्रसार ने इस परंपरा को हड़पना प्रारंभ कर दिया। यह ग्रासीकरण दिन दिन बढ़ता ही गया। इसके साथ ही राज्य की प्राचीन संस्कृत परंपरा भी अस्त होती गई, किंतु महाराज हरी सिंह ने महाराज रणवीर सिंह द्वारा स्थापित संस्कृत प्रतिष्ठान, सदावर्त, और मठों का पोषण पूर्ववत् चालू रखा। इस युग में यह भी कम न था। इन्होंने संस्कृत क्षेत्र में अपनी एक नई उपलब्धि यह भी जोड़ दी कि संस्कृत की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये शास्त्रियों को बड़ी बड़ी छात्रवृत्तियों पर काशी भेजा जाने लगा।

सन् १६४७ के अनंतर स्वतंत्रताप्राप्ति के युग में आकर महाराज हरि सिंह के सुपुत्र डा० महाराज कर्ण सिंह ने भी संस्कृतप्रेम की अपनी परंपरा की विरासत को साथ रखते हुए अपने पूर्वजों की इस थाती को अभी तक सुरक्षित रखा है 'यद्यपि आज के नवीन वैज्ञानिक युग में अंग्रेजी के अंधे अनुराग ने जनता की भावना को संस्कृत की दिशा की ओर से मोड़ने के प्रयत्न किए हैं। यह एक युगचक्र है जो परिवर्तन की धुरी पर घूमता हुआ आया है। अब इसे अपना समय लेना ही है।

महाराजा डा० कर्ण सिंह के संस्कृतप्रेम के कारण ही उन प्राचीन हस्तलेखों को नया संरक्षण मिला है। एक रघुनाथ संस्कृत अनुसंधान विभाग की अलग स्थापना करते हुए, इन्होंने संस्कृत शोध कार्य को बड़ा प्रोत्साहन दिया है। इन्हीं की प्रेरणा का फल है कि जंबू कश्मीर में अब भी उस प्राचीन का लेखनकार्य और पठन पाठन प्रचलित है। श्री रघुनाथ संस्कृत महाविद्यालय में संस्कृत पठन पाठन का प्रतिष्ठान भी चल रहा है। तथा लेखन कार्य की दिशा में श्री शुकदेव शास्त्री ने लगभग संस्कृत के चार काव्य भी लिखकर प्रकाशित किए हैं। अभी उनकी साधना चल रही है। संस्कृत गद्य की दिशा में संस्कृत पुस्तकालय के अध्यक्ष श्री रामकृष्ण शास्त्री ने भी उन दिनों कादंबरी कथा सार, लिखकर इस परंपरा को अग्रसर किया है।

*

पौराणिकी

२६४४

[१]

इंडियन प्रेस, प्रयाग।

महाशय, ता० ६-४-१९१२

कृपापत्र मिला।

जाने दीजिए, यदि आपकी राय नहीं है तो कालीदास संबंधी लेखों का संग्रह न छापा जायगा।

भवदीय—

रा० ला०

हाँ, मैं कल प्रूफ पढ़ रहा था, आपका लिखा हुआ, 'नल का दुस्तर वह कार्य' वाला लेख बहुत ही उत्कृष्ट हुआ है। पढ़ते पढ़ते चित्त आनंद में मग्न हो गया। धन्य है आपकी ओजस्विनी लेखनी को। खूब लिखा। यदि इसी भाषा में आप 'हिंदी रघुवंश' को लिख जायँ तो हिंदी का हिंदी जाननेवालों का बड़ा उपकार हो। आशा है, आप मेरी प्रार्थना पर अवश्य ध्यान देने की कृपा करेंगे।

भवदीय—

रा० ला० शर्मा

पत्र छपे कार्ड पर है। अंगरेजी में द्विवेदी जी ने रिप्लाइड ८।४।१२ लिखा है।

२६४५

[२]

इंडियन प्रेस, प्रयाग।

महाशय, ता० ९-४-१९१२

८ का कृपाकार्ड मिला। रघुवंश का मर्म हिंदी में लिखना कठिन तो है ही पर आपके परिश्रम से हिंदी में एक अपूर्व ग्रंथ रत्न तैयार हो जायगा। यथावकाश करते रहिएगा।

भवदीय—

रा० ला०

पत्र छपे कार्ड पर है। द्विवेदी जी ने अंगरेजी में रिप्लाइड ११-४-१२ लिखा है।

२६४१

[२]

इंडियन प्रेस,
१०–८–१२

श्री द्विवेदी जी,

आपका कृपापत्र कल और रघुवंश का हिंदी अनुवाद आज मिल गया। धन्यवाद। अनुवाद को मैंने जहाँ तहाँ देखा और उस भूमिका के प्रकरण को भी पढ़ा। क्या कहना है। जैसा मैं चाहता था वैसा ही हुआ। आपने रघुवंश का ऐसा उत्तम अनुवाद लिखकर हिंदी साहित्य में एक उत्तम रत्न उत्पन्न कर दिया। इसके गुण बड़े बाबू को सुना दूँगा।

मथुरावाले व्याकरण की सूची मिली। मेरी एक प्रार्थना है। वह यह कि आपने गत वर्ष हिंदी साहित्य संमेलन में प्रत्येक हिंदी लेखक को एक एक हिंदी पुस्तक लिखने की संमति दी थी। उसी को स्मरण करके मैंने आपसे इस पुस्तक के लिखने की प्रार्थना की थी। सो आपने स्वीकार कर ली। अब दूसरी प्रार्थना यह है कि यदि आप इस पुस्तक में संमेलन के नाम समर्पण लिखकर लगा देते तो बहुत ही उत्तम होता। मुझे आशा है, आप मेरी बात को विचारकर इस विषय में अपनी संमति लिखेंगे।

मैं इसी प्रकार और भी कुछ लोगों को इसी ढंग की पुस्तकें लिखने को प्रेरणा कर रहा हूँ।

समर्पण की दशा में यह पुस्तक तृतीय संमेलन के अधिवेशन तक प्रकाशित कर दी जाय और पहले पहल आपके द्वारा उसी जलसे में यह प्रदान की जाय तो बड़ी अच्छी बात हो। कृपया लिखियेगा। आपकी क्या राय है।

भवदीय—

रामजी लाल शर्मा

पत्र मोटे कागज पर है तथा अंगरेजी में द्विवेदी जी ने लिखा है १२–८–१२ लिखा है।

२६४०

[४]

इंडियन प्रेस, प्रयाग

ता० १४-८-१६१२

महाशय

आपके ३ नोट और पत्र मिले। ये नोट यथास्थान छाप दिये जायँगे। इस कारण आप संमेलन को समर्पण करना उचित नहीं समझते। खैर, मेरी राय में तो यह कारण कोई कारण नहीं। जहाँ तक मैं जानता हूँ, संमेलन के अधिकारी तथा सभासद् आपकी उस बात को बड़े गौरव की दृष्टि से देखते हैं। आपकी वह बात कुछ प्रस्तावरूप में तो थी नहीं जो तत्काल उसपर कुछ किया जाता। आपने तो अपने व्याख्यान में उस विषय पर लोगों का ध्यान आकर्षित किया था। देखिए, मैंने ही आपकी उस संमति से लाभ उठाने के लिये कितने ही लोगों को प्रेरणा की है। लोग बड़ी प्रसन्नता से मानते हैं। अस्तु, यदि यही इच्छा है तो एक विज्ञापन बनाकर जल्द आपकी सेवा में भेजूँगा।

विनीत—

रामजी लाल शर्मा

पत्र छपे कार्ड पर है तथा द्विवेदी जी ने अंगरेजी में १६-८-१२ लिखाहुआ लिखा है।

मैं संमेलन के संबंध में एक लेख लिखना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि वह सरस्वती में छपे। पर साथ ही आपसे कुछ सहायता भी अपेक्षित है। आशा है, हिंदी की भलाई के लिये, संमेलन की सफलता के लिये आप अपने गंभीर विचारों से मेरी सहायता अवश्य करेंगे। आप यह बतलाइए कि मैं इस विषय पर किन किन विचारों का प्रकाश करूँ। किन किन बातों से यह काम सफल हो सकता है? मैं भी सोच रहा हूँ। आशा है, आप भी बीजरूप से विषयों का वर्णन कर मुझे अनुगृहीत करेंगे।

रा० ला०

कहिए जुही कब तक आइएगा।

रा० ला०

२६३६

[५]

कुर्रीसुदौली
४ सितंबर

मान्यवर द्विवेदी जी,

कृपापत्र के लिये हार्दिक धन्यवाद स्वीकार कीजिये। रघुवंश का भाषानुवाद करके आपने हिंदू समाज का बड़ा उपकार किया है। आपका यह कार्य सचमुच सराहनीय है।

आपने जो इस अनुवाद को मुझे समर्पण करने की इच्छा प्रकट की है आपके इस दया भाव के लिये मैं अंतःकरण से आपका कृतज्ञ हूँ। आपके हाथ से इस प्रकार संमानित होने को मैं अपना गौरव समझता हूँ और आपके इस प्रस्ताव के स्वीकार करने में मुझे कुछ भी आपत्ति नहीं है परंतु मैं इतना चाहता हूँ कि जैसा यह महत कार्य है वैसे ही यह किसी महत पुरुष के समर्पण होता तो बहुत अच्छा था। राजा साहब सीतामऊ (राजपुताना) एक बड़े योग्य रईस हैं। मेरे विचार से यह पुस्तक उनके समर्पण करना उत्तमतर था। यदि आप मुझ से सहमत हों तो मैं इस विषय में उनकी स्वीकृती प्राप्त कर लूँ।

आशा है आप सानंद होंगे।

आपका कृपाकांक्षी
Rampal Singh

पत्र राजमुद्रांकित कागज पर है। द्विवेदी जी ने अंगरेजी में रिमार्क ७।१०।१२ लिखा है।

३६३८

[६]

PRIVATE SECRETARY'S OFFICE
KURRISUDAULI ESTATE.
Dist. Rai Bareli
12th Septr.

मान्यवर,

कृपापत्र कई दिनों का आया पड़ा है, मैं ज्वर से पीड़ित होने के कारण, उत्तर नहीं लिख सका। क्षमा प्रार्थी हूँ।

राजा साहब का पूरा नाम उपाधि सहित यह है, "आनरे-बिल राजा रामपालसिंह सी० आई० ई० ऐफ० ऐ० The Honble Raja Rampalsingh ji C. G. E, F. A. U. पिछला खिताब F.A. U. (Fellow Allahabad University) University का है, परंतु राजा साहब अब University के फेलो नहीं है। साधारणतः न रहने पर भी यह उपाधि लोग नाम के साथ लिख देते हैं, मेरी समझ में समर्पण में लिखने से कोई हर्ज न होगा। आप भी विचार लीजियेगा और यदि उचित हो तो लिख दीजियेगा। इसके सिवाय अलकाब आदाब और कुछ नहीं।

समर्पण का मसविदा मैं आपके सामने क्या खाक बनाऊँगा। ऐसा लिखना आपका औदार्य है। आज्ञा पालन में मुझे कोई आपत्ति न थी परंतु उससे कोई नतीजा नहीं। केवल ढिठाई होगी। सो हिंदी के एक जगत प्रसिद्ध धुरंधर लेखक के सामने जिनको मैं गुरुवत मानता हूँ—ऐसी ढिठाई करने का मुझे साहस नहीं होता।

राजा साहब के गुणों की कथा मैं क्या लिखूँ। आपसे मैं नौकरी वाली बात नहीं कहता। निरी सच्ची बात कहता हूँ। ऐसा धर्मात्मा, न्यायी, सदाचारी, स्वार्थशून्य, परहित परायण, रईस तो मैंने देखा ही नहीं। उनका एक छोटा सा जीवन चरित्र लिखकर सर्वसाधारण के भेंट किया था। उनके गुण वर्णन की मुझे पियास थी, सो पियास भी उससे नहीं मिटी। मैं चरित्र नहीं लिख सका—

मुझ क्षुद्र बुद्धि के लिये राजा साहब too grand an object निकले। इसी से कहता हूँ मैं आपको इसमें क्या सहायता दूँ। Shakespeare के एक जुमले को मैं दुहराए देता हूँ। आप पंडित हैं। इसी से आप अनुमान कर लेंगे। "the elements so mixed in him that nature might stand up and say. He is the man. फोटो रजिस्टरी पारसल द्वारा भेजता हूँ। ज्वर से पत्र लिखा है कोई भूल हो गई हो तो क्षमा कीजियेगा।

आपका कृपापात्र

तिलक सिंह

एक प्रति जीवन चरित्र तथा एक प्रति राजा साहब की स्पीच भेजता हूँ।

२६३७

[७]

Kurri Sidauli

12 septr.

मान्यवर द्विवेदी जी,

आपका प्रगाढ़ स्नेह-परिपूर्ण कृपा पत्र मिला। अपने पर आपका इस प्रकार प्रेम देख कर मुझे बड़ा आत्मसंतोष हुआ और मेरे पास शब्द नहीं कि मैं आपको यथोचित धन्यवाद दे सकूँ। आप सहर्ष मुझे संमानित करें परंतु मैं सचमुच यह नहीं जानता कि मैं कहाँ तक इस सम्मान का अधिकारी हूँ।

आपका अत्यंत कृतज्ञ

Rampal Singh

पत्र राजमुद्रांकित कागज पर है। द्विवेदी जी ने अंगरेजी में रिप्लाइड १४-९-१२ लिखा है।

२६३६

[८]

इंडियन प्रेस, प्रयाग।

महाशय

ता० १८-११-१९१२

रघुवंश का प्रूफ मिला। नोट पढ़ा। लेडें ऐसी हैं। यदि वैसी लेडें के लिए ठहरते तो पुस्तक में कई मास की देरी हो जाती। अतः बड़े बाबू ने यही ढंग पसंद किया है। लेड डालकर पुस्तक का आकार बढ़ाना ठीक न होता। व्यर्थ मूल्य अधिक रखना पड़ता। मूल्य जितना ही कम हो उतना ही प्रचार अधिक होता है। रही आपकी अर्थहानि की बात सो उसकी चिकित्सा हमारे हाथ है। वह इस प्रकार कि अंत में हिसाब करते समय ३० लाइन का ही पेज मानकर पुरस्कार चुकाया जायगा। ऐसी दशा में आपको भी कुछ ऐतराज न होना चाहिए।

भवदीय

दा० ला०

जनवरी के लिए अच्छे चित्रों का प्रबंध आप भी कीजिए हम भी करेंगे।

सरस्वती के क्या प्रूफ तो सभी के खूब ध्यान से पढ़े जाते हैं पर इस बार इस लेख में यह घटना एक विचित्र रीति से ही हो गई। वह यह कि यह लेख पिछले मास का बचा हुआ था। आपने पढ़ा न था। बीच में कहीं आपने उस नोट का टाइप बदलने को लिख दिया था। कंपो० ने बदल दिया, पर पढ़ाया नहीं। इसलिए ऐसा हो गया। भूल प्रेस की है। अतः क्षमा कीजिएगा।

पत्र छपा है।

रामलाल

२६३१

[६]

कोर्री सुदौली
ता० ६ मार्च १६१३

प्रिय द्विवेदी जी—

आपका कृपापत्र मै तीन कापियाँ रघुवंश के मेरे पास पहुँचा—मैं आपको हृदय से धन्यवाद देता हूँ—मैं रघुवंश को अवश्य पढ़ूँगा—किसी पुस्तक को दूसरे से पढ़ाकर सुन्ना मुझे ना पसंद है—मैं खुद रघुवंश को पढ़ूँगा और उससे लाभ व हर्ष उठाऊँगा—२५ फरवरी को राजमाता कोर्रीसुदौली का बैकुंठ वास हुआ—इसी कारण मैं लिमरी नहीं जा सका और आजकल तत संबंधी क्रया में लगा हूँ इससे निवृत्ति पाकर आपके पुस्तक को पढ़ूँगा—

ठा० तिलकसिंह से मालूम हुआ था कि आपका विचार मुझसे मिलने का है, आप कब यह कृपा करेंगे उसके जानने को मैं उत्सुक हूँ कृपा करके पहिले से कोई तारीख नियत कर दीजिये ताकि मैं मकान पर मौजूद रहूँ—और सब प्रमात्मा की कृपा से कुशल है।

पत्र राजमुद्रांकित कागज पर है। अंग्रेजी में द्विवेदी जी ने रिप्लाइड ७-३-१३ लिखा है।

आपका कृपाभिलाषी
रामपाल

२६३२

[१०]

११-३-१२

प्रिय द्विवेदी जी—

आपका कृपापत्र मिला जिन शब्दों में आपने अपनी सहानुभूति मेरे शोक में प्रगट की है उनका मैं धन्यवाद देता हूँ—आपने रघुवंश को मेरे नाम समरपण करके मेरी प्रतिष्ठा को बढ़ाया है न कि पुस्तक की—मैं आपको विस्स्वार दिलाता हूँ मेरे दिल में कुछ जो ख्याल नहीं पैदा हुआ—केवल आपसे मिलने को इच्छा बहुत दिन से थी और जब यह मालूम हुआ कि आपकी भी वही इच्छा है तो मैंने आपको लिखा कि जरूर कृपा कीजिए—हिंदी की जो दशा है वह बहुत शोचनीय है आपने जो कुछ परिश्रम उसमे प्रेम बढ़ाने के वास्ते किया है वह विदित है—मुझे हिंदी और हिंदूधर्म से हार्दिक प्रेम है परंतु वह प्रेम ही प्रेम है और उससे जादा कुच्छ नहीं—न मुझे हिन्दी आती है और न हिंदु धर्म जान्ता हूँ—आपसे मिलने की इच्छा केवल इसी कारण हुई कि मुझे कुच्छ लाभ ही होगा—

हिंदू ताल्लुकेदारों की दशा पर जो कुछ शोक प्रकट किया जावै थोड़ा है—जब बड़ो की यह अवस्था है तो छोटे क्या कर सकते हैं—आप जब रायबरेली आवै तो यहाँ पधारने की जरूर कृपा कीजिएगा—पहिले से मुझे सूचना दे दीजिएगा।

आपका कृपाभिलाषी

रामपाल

पत्र राजमुद्रांकित कागज पर है जिसपर द्विवेदी जी ने अंगरेजी में रिप्लाइड १२।३।१२ लिखा है।

विमर्श

'ब्रह्मवैवर्त की प्रतीकित राधा'

मैंने नागरीप्रचारिणी पत्रिका के श्रावण २०२२ के अंक को देखा। विशेष रूप से उसमें श्री गोपालजी 'स्वर्णकिरण' के 'ब्रह्मवैवर्त की प्रतीकित राधा' लेख को पढ़ा। 'प्रतीकित' शब्द मेरे लिये नया था। परंतु ऐसी आशा करता हूँ कि वह उस अर्थ को व्यक्त करता ही होगा जो लेखक महोदय को अभीष्ट था। इस लेख की ओर एक मित्र ने विशेष रूप से मेरा ध्यान आकृष्ट किया। उन्होंने बहुत ही शिष्ट भाषा में यह संकेत किया कि मेरा नाम संपादकमंडल में छपा है, परंतु मैंने अपने कर्तव्य का पालन नहीं किया। लेख को पढ़ने के बाद मुझे ऐसा लगा कि उनका आक्षेप कुछ हद तक ठीक है।

चौथी पंक्ति में यह कहा गया है कि राधा की कल्पना अत्यंत प्राचीनकाल के किसी अज्ञात कवि के मस्तिष्क की है। मैं नहीं कह सकता कि किन प्रमाणों के आधार पर यह बात कही गई है। कवि ज्ञात हो या अज्ञात परंतु अभी तक तो ऐसे प्रमाण स्यात् कम ही मिलते हैं जो यह सिद्ध करते हों कि यह कल्पना अति प्राचीनकाल से चली आ रही है।

जिन मित्र ने मेरा ध्यान इस लेख की ओर आकृष्ट किया था उन्होंने तो केवल प्रथम पृष्ठ पर दिए हुए फुट नोट के हिंदी अनुवाद की अयथार्थता पर ही आक्षेप किया था, परंतु मैं देखता हूँ कि लेखक महोदय ने एक अंग्रेजी पुस्तक पर अत्यधिक बोझ डालकर अपने लेख में कुछ ऐसी बातें लिख दी हैं जो निराधार प्रतीत होती हैं। खेद है कि उनकी ओर संपादन करते समय ध्यान नहीं गया। लेख में यह वाक्य है 'राधा का नामोल्लेख ब्रह्मवैवर्त से पहिले हरिवंश अथवा महाभारत के परिशिष्ट (विष्णुपर्व, अध्याय २०) विष्णु एवं भागवत पुराण में है।' वस्तुतः राधा का नाम न तो भागवत में है, न हरिवंश के विष्णुपर्व के २०वें अध्याय में और न स्यात् विष्णु पुराण में। मूल अंग्रेजी ग्रंथ में इतना ही लिखा है कि इन पुस्तकों में गोपियों के साथ कृष्ण की क्रीड़ा का उल्लेख मिलता है। राधा नाम का चर्चा अंग्रेजी लेखक ने नहीं किया है। श्री 'स्वर्णकिरण' जी ने इतना अपनी ओर से प्रक्षेप कर दिया है। अनुवाद करते समय उन्होंने मूल के एक महत्वपूर्ण वाक्य को छोड़ दिया। ब्रह्मवैवर्त के संबंध में मूल में यह विशेषण दिया गया है कि ब्रह्मवैवर्त बहुत अर्वाचीन तथा सांप्रदायिक है। जिन लोगों ने

पुराणों का अध्ययन किया है प्रायः उन सब लोगों की यह राय है। लेखक महोदय को इस बात का पूरा अधिकार था कि वह ब्रह्मवैवर्त में दिए हुए राधा के रूप का चर्चा अपने लेख में करते। परंतु उनको यह भी स्पष्ट करना चाहिए था कि ब्रह्मवैवर्त का स्थान पुराणों में बहुत ऊँचा नहीं है। इस बात की ओर भी उनको संकेत कर देना था कि भागवत जैसी पुस्तक को जो श्रीकृष्ण के जीवन के संबंध में बहुत प्रामाणिक मानी जाती है, राधा का नामोल्लेख नहीं है। यदि उन्होंने इन्साइक्लोपीडिया आफ रेलिजन एँड एथिक्स के वाक्य का ठीक ठीक हिंदी अनुवाद दे दिया होता तो भी भ्रम उत्पन्न न होता। मैं लेखक महोदय से उनके लेख के संबंध में कोई शास्त्रार्थ नहीं करना चाहता परंतु यह जरूर स्वीकार करता हूँ कि यदि संपादकमंडल के सदस्य के नाते मैंने अपने कर्तव्य का पालन किया होता तो शायद ये भूलें न होतीं।

—संपूर्णानंद

प्रेमरत्न और उसकी रचयित्री

नागरीप्रचारिणी पत्रिका, संवत् २०२२ वि० के अंक १. पृ० ७२ पर डा० पूर्णमासी राय का 'प्रेमरत्न और उसकी रचयित्री' शीर्षक शोधपूर्ण लेख छपा है। डा० राय ने अपने लेख में द्विधात्मक विचार प्रकट किये हैं। नागरीप्रचारिणी सभा से प्रकाशित खोज विवरणिकाओं को डा० राय एक स्थान पर भ्रमात्मक मानते हैं और पुनः अन्य स्थान पर प्रामाणिक भी मानते हैं। किंतु सत्य यह है कि खोज विवरणिकाएँ भ्रमोत्पादक होती ही नहीं। खोजविवरणिकाओं में खोज में उपलब्ध सामग्री के आधार पर जो निष्कर्ष निकलते हैं उन्हीं को प्रकाशित किया जाता है। इस प्रकार जैसे जैसे सामग्री मिलती जाती है खोज विवरणिकाएँ तथ्यों में परिष्कार-परिमार्जन करती जाती हैं।

डा० राय ने उक्त लेख में लिखा है कि 'प्रेमरत्न के रचयिता को लेकर जो भ्रम साहित्यान्वेषकों ने खोज विवरणिकाओं से फैलाया उसका निराकरण अब हो जाना चाहिए।'[१] प्रेमरत्न की रचयित्री बीबी रत्नकुँवर ही हैं, इसका स्पष्टीकरण

१. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, सं० २०२२, वर्ष ७०, अंक १, पृ० ८८।

और निराकरण डा० राय के लेख लिखने के ३५ वर्ष पूर्व ही नागरीप्रचारिणी सभा की खोज विवरणिका सन् १६२६–३१ ई० से हो गया था।[2] डा० राय ने स्वयं यह बात स्वीकार की है।[3] सन् १६२६–३१ ई० की खोज विवरणिका ध्यान देने योग्य है। इस खोजविवरणिका की संख्या २६७ ए में संपादक की टिप्पणी है—"इस ग्रंथ की रचयित्री बीबी रतकुँवरि काशी निवासिनी थीं।"[4] समस्त प्राप्त खोजविवरणिकाओं में सन् १६२६–३१ की खोजविवरणिका की संख्या २६७ बी बहुत महत्वपूर्ण है। इस विवरण में प्राप्त 'पुष्पिका' के आधार पर सिद्ध होता है कि रतकुँवरि प्रेमरत्न ग्रंथ की रचयित्री थीं। यही एक ऐसा विवरण है जिसे आगे आनेवाले संपादकों ने स्वीकार किया। इसमें बीबी रत्नकुँवरि का स्पष्ट उल्लेख है—'इति श्री प्रेमरतन बीबी रतनकुँवर कृत संपूर्ण समाप्तः लिखितं चेतनदास स्वपठनार्थं काशीवासी सं० १६०७ वि०"।[5]

डा० राय ने अपने लेख में १६४१ ई० की खोजविवरणिका को विशेष महत्व दिया है।[6] किंतु १६४१ ई० की खोजविवरणिका में लिए गए विवरण से यह कभी भी सिद्ध नहीं किया जा सकता कि बीबी रतकुँवरि प्रेमरत्न ग्रंथ की रचयिता थीं। इसे सिद्ध करने के लिये तो सन् १६२६-३१ ई० की खोजविवरणिका की संख्या २६७ बी० की पुष्पिका का ही आश्रय ग्रहण करना होगा; जैसा कि १६४१ ई० की खोजविवरणिका के संपादक आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने स्वीकार किया है—"(सन् १६२६–३१ ई० के) खोजविवरण में इस ग्रंथ की दो प्रतियों का उल्लेख है जिनमें से दूसरी प्रति की 'पुष्पिका' में रचयिता का नाम बीबी रतकुँवरि दिया है। अतः रचयिता का वही वास्तविक नाम है।"[7] यह बात जरूर है कि सन् १६४१ ई० की खोज विवरणिका में उस तथ्य का पूर्ण और स्पष्ट रूप से निराकरण हो गया। अतः डा० राय के लेख लिखने के यदि ३५ वर्ष पूर्व

२. दे० खोज विवरणिका–सन् १६२६–३१, सं० २६७ ए० की टिप्पणी, पृ० ५५६।
३. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, सं० २०२२, वर्ष ७०, अंक १, पृ० ७२।
४. दे० खोज विवरणिका सन् १६२६–३१ ई०, पृ० ५५६।
५. खोज विवरणिका सन् १६२६–३१ ई०, संख्या २६७ बी०, पृ० ५५६।
६. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, सं० २०२२, वर्ष ७०, अंक १, पृ० ७४।
७. हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों का अठारहवाँ त्रैवार्षिक विवरण, सन् १६४१–४३ ई०, पृ० १२५।

नहीं तो २५ वर्ष पूर्व ही यह निराकरण हो गया था कि प्रेमरत्न ग्रंथ की रचयित्री बीबी रत्नकुँवरि ही हैं और इस निराकरण का आधार साहित्यान्वेषकों की खोज तथा प्रकाशित खोजविवरणिकाएँ ही थीं।

विद्वान लेखक ने अपने लेख में दो भूलें की हैं—प्रथम, पत्रिका के पृष्ठ ७३ पर सन् १६२६–३१ की खोजविवरणिका से तथ्य प्रस्तुत करते हुए लेखक ने पाद टिप्पणी के लिये संख्या ७, ८ और दी है और संख्या ७ की पाद टिप्पणी में लिखा है—'खोज विवरणिका सन् १६२६–३१ ई०, दे० हिंदी रूपांतर डा० बटेकृष्ण कृत।' इस पाद टिप्पणी से स्पष्ट हो जाता है कि डा० राय ने उक्त खोज विवरणिका को स्वयं नहीं देखा था। ऐसा ज्ञात होता है कि किसी के बताने पर उन्होंने ऐसा लिख दिया होगा। उक्त पादटिप्पणी में लेखक की भूल यह है कि उसने लिख दिया—'दे० हिंदी रूपांतर डा० बटेकृष्ण कृत।' वस्तुतः डा० बटेकृष्ण द्वारा अनूदित खोजविवरणिका सन् १६२६–२८ है, जिसके संपादक हैं स्वर्गीय रायबहादुर डा० हीरालाल जी।[८] सन् १६२६–३१ ई० की खोज विवरणिका श्री पं० दौलत राम जुआल द्वारा अनूदित है, जिसके संपादक हैं स्वर्गीय डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल।[९]

द्वितीय भूल डा० राय की यह है कि उन्होंने 'पुष्पिका'[१०] शब्द के स्थान पर भूमिका शब्द का प्रयोग किया है। 'पुष्पिका' के स्थान पर 'भूमिका' शब्द का औचित्य सिद्ध नहीं होता।

—उदयशंकर दुबे 'शील'

❀

८. हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों का त्रयोदश त्रैवार्षिक विवरण सन् १६२६–२८, ना० प्र० सभा, काशी।

९. वही. चतुर्दश त्रैवार्षिक विवरण, १६२६–३१।

१०. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, सं० २०२२, वर्ष ७०, अंक १, पृ० ७३, पंक्ति १७।

चयन

कंबोज देश में भारतीय संस्कृति

डा० रसिकविहारी जोशी

•

सागरिका (संस्कृत परिषद्, सागर विश्वविद्यालय, सागर द्वारा प्रकाशित संस्कृत त्रैमासिकी) वर्ष ४, अंक १ में प्रकाशित 'कम्बुजदेशे भारतीयसंस्कृतिः' शीर्षक संस्कृत निबंध का सार—

प्रस्तुत निबंध में लेखक ने संस्कृतप्रेमी पाठकों के लिये कंबोज देश में स्वकीय अनुभवों को उपस्थित किया है। लेखक की दृष्टि में प्रायः दो सहस्र वर्ष प्राचीन भारतीय संस्कृति के चिह्न यहाँ गोचर हुए। चीनी लेखकों के प्रमाण से लक्षित होता है कि ईसा की प्रथम शती के उत्तरार्ध में कोई कौंडिन्य नामक ब्राह्मण कंबोज देश में गया था। फूनान नामिका रानी के देश में पहुँचने पर परम सुंदरी रानी फूनान या फोनान ने उससे युद्ध करने का संकल्प किया। कौंडिन्य के पराक्रम से वह शंकित होगई तथा उसकी शरण में गई। उससे विवाह करके कौंडिन्य वहीं बस गए। कंबोज राजपरिवार के यही प्रथम पूर्वपुरुष माने जाते हैं।

चतुर्थ शती ई० में कोई अन्य कौंडिन्य भी वहाँ गया था। उसने कंबोज की राजकुमारी यशोमती से विवाह किया। यदि वहाँ के नामों पर दृष्टिपात करें तो उनमें भी भारतीय प्रभाव स्पष्ट दीखता है। जैसे, शिवसोम, इंद्रवर्मा, श्रोतवर्म, श्रेष्ठवर्म, जयवर्म, रुद्रवर्म, भववर्म, ईशानवर्म आदि। वहाँ के देवालयों में रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत आदि का प्रभाव स्पष्ट दीखता है। वैष्णव, शैव तथा बौद्ध कलाओं का वहाँ प्राचुर्य है। विष्णु, परमविष्णु महाविष्णु तथा उनके अवतारों की मूर्तियाँ, शिवलिंग तथा बौद्ध प्रतिमाओं का वहाँ बाहुल्य है। लोकेश्वर आदि की मूर्तियाँ वहाँ कहाँ नहीं हैं। कामांतक शिव, त्रिपुरांतक शिव, भिक्षाटन शिव, क्षीर सागर में शेषशायिनारायण, गोवर्धनधारी बालमुकुंद, महिषासुरमर्दिनी, शरासनशायि भीष्मपितामह, स्यंदनारूढ़ रणपरायण द्रोणाचार्य, अमृतमंथन आदि मूर्तियाँ बारंबार दर्शनीय हैं। ख्मेर कला की भाँति ख्मेर भाषा के शब्दों में संस्कृतसाम्य भी विचारणीय है। क्रमशः संस्कृत तथा ख्मेर शब्द—गंगा = मेकोंग, वायु = वाय, पुरुष = प्रुष, वरुण=मिरोन, अक्षर =

अक्षर, अभिषेक = अभिषेक, आकाश = आकाश, आयुष् = आयुस्, आहार = आहार, काल = काल, कार्य = कार, कुल = कुल, गौ = को, गुरु = गुरु, जन = जन पति = ति, प्रश्न = प्रश्न, मनुष = मनुष, यशस् = यश, रक्षा = रक्षा, सार = सार, सुख = सुक्, समुद्र = समुत्, विवाद = विवात्, वंश = वंश, मुख = मुक्, दोष = दोष, विनय = विनय आदि।

विदेशियों का ध्यान कंबोज की दो बातों की ओर बरबस आकृष्ट होता है—

१. कंबोज की एक जाति आज भी जनशून्य जंगलों में निवास करती है। इसकी तुलना भारतीय अहितुंडिक नामक गारुडी विद्या विशारदों से हो सकती है।

२. आज भी प्नोमपेन्ह नगर की लप्नोम नामक प्रसिद्ध समाधि पर बैठने वाले अनुभवमात्र से सामुद्रिक के चमत्कार दिखाते हैं। वहाँ जानेवाला बिना पठनपाठन के सामुद्रिक बन जाता है।

इस प्रकार कंबोज देश में आज भी भारतीय महर्षियों की महती परंपरा का प्रभाव लक्षित होता है।

❀

शिवदास रचित अचलदास खीची री वचनिका

डा० मोतीलाल मेनारिया

शोधपत्रिका, जनवरी अप्रैल, १९६६, अंक १–२ में प्रकाशित निबंध का

सार—विभिन्न प्रमाणों तथा विवेचनों के आधार पर इस निबंध में यह मान्यता स्थिर की गई है कि शिवदास रचित 'अचलदास खीची री वचनिका' को जो सं० १४८० के आसपास की रचना बताया जाता है वह निर्मूल है। वस्तुतः यह ग्रंथ उतना पुराना नहीं है। इसमें आए हुए कई व्यक्तियों के नाम कपोलकल्पित एवं मनगढ़ंत हैं। यह चारणों तथा भाटों की बहियों, लोककथाओं, किंवदंतियों तथा सुनी सुनाई बातों के आधार पर सं० १६१२ से १६३१ के बीच लिखी गई थी।

❀

राजस्थान के आरंभिक वैष्णव मंदिर

श्री विजयशंकर श्रीवास्तव

शोधपत्रिका, जनवरी-अप्रैल १९६६, अंक १–२ में प्रकाशित निबंध का सार—

राजस्थान में वैष्णव परंपरा अति प्राचीन है। राजस्थान का दक्षिणी-पश्चिमी भाग ई० पू० को अंतिम शताब्दियों में भागवत धर्म का प्रमुख केंद्र था। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का यह मत समीचीन ही है कि 'मधुरा-माध्यमिका-

विदिशा' का भौगोलिक त्रिकोण भागवत आंदोलन का प्रधान स्थल था। प्रस्तुत निबंध में मध्यमिका के वैष्णव मंदिरों के इतिहास पर विचार किया गया है। विभिन्न पुरातात्विक प्रमाणों के आधार पर स्थापना यह है कि राजस्थान में ई० पू० की शताब्दियों में वैष्णवधर्म की जिस धारा का आरंभ हुआ, वह ८वीं शती तक अबाध प्रवाहित होती रही। यद्यपि इस काल में वैष्णव मंदिर बने अवश्य थे। परंतु वे अब नष्ट हो चुके हैं। जो पुरातात्विक सामग्री एवं अवशेष बच रहे हैं वह मंदिर स्थापत्य की प्रारंभिक स्थितियों के अध्ययन के लिये अत्यंत महत्वपूर्ण तथा उपयोगी है। ८वीं शती के बाद राजस्थान में अनेक राजवंशों के प्रादुर्भाव के साथ मंदिर निर्माण की जो बाढ़ आई उनकी पूर्वपीठिका राजस्थान के ये आरंभिक मंदिर प्रस्तुत करते हैं।

निर्देश

संस्कृत

सागरिका, संस्कृत परिषद्, सागर विश्वविद्यालय, सागर की संस्कृत त्रैमासिकी, वर्ष ४ अंक ३

संस्कृत पत्रकारिता (१६५२-१६५५)—संस्कृत पत्र पत्रिकाओं का परिचयात्मक इतिवृत्त।

हिंदी

शोधपत्रिका, वर्ष १७ अंक १—२ जनवरी—अप्रैल १९६६

मेवाड़ के आंतरिक-मामलों में ब्रिटिश हस्तक्षेप— डा० देवलाल पालीवाल।

महाराणा कुंभ के दो अप्रसिद्ध ग्रंथों की महत्वपूर्ण प्रशस्तियाँ—श्री अगरचंद नाहटा।

जनभारती,कलकत्ता, वर्ष १४ अंक १ सं० २०२३

शेखावाटी के संत कवियों का छंद और अलंकार संबंधी ज्ञान—श्री हरफूल सिंह।

समीक्षा

व्यास-अभिनंदन-ग्रंथ

संपादक—हजारीप्रसाद द्विवेदी; प्रकाशक—व्यास-स्वर्ण-जयंती-समारोह समिति, १० थियेटर कम्युनिकेशन बिल्डिंग, नई दिल्ली; पृष्ठ संख्या ४००; मूल्य २०)।

पद्मश्री गोपालप्रसाद व्यास हिंदी हास्य व्यंग्य जगत के देदीप्यमान नक्षत्रों में से हैं। राष्ट्र और राष्ट्रभाषा की सेवा में जुटे हुए कवि, लेखक तथा पत्रकार व्यास जी की सेवाओं के अभिनंदनार्थ प्रस्तुत ग्रंथ उनकी स्वर्णजयंती के अवसर पर समर्पित किया गया। इस अभिनंदन ग्रंथ के रूप में एक प्रकार से व्यासजी के व्यक्तित्व और कृतित्व का मूल्यांकन किया गया है, साथ ही साहित्य की जितनी विधाओं में व्यास जी ने लिखा है उसका उचित अंश इस ग्रंथ में संगृहीत है। उनकी ब्रज तथा खड़ी बोली में रचित कविताएँ इसमें हैं और साथ ही चुनी हुई व्यंग्य-विनोदात्मक कविताएँ भी। गद्य की विविध विधाओं में लिखे गए साहित्य का भी संग्रह है।

व्यास जी ने भाषा और साहित्य की सेवा एक ओर कंपोजीटर से लेकर संपादक-पत्रकार, कवि-आलोचक, हास्य-व्यंग्यकार आदि अनेक विविध रूपों में की है तो दूसरी ओर हिंदी साहित्य संमेलन, राजभाषा संमेलन और भारत सरकार की हिंदी सलाहकार समिति के पदाधिकारी के रूप में भी की है। उनकी भाषा और साहित्य की विविधरूपेण सेवा का मूल्यांकन ही इस ग्रंथ में है। संपादकमंडल ने अपने संपादकीय में लिखा है, 'व्यास जी तीर की तरह से नीचे से अपने लक्ष्य की ओर ऊँचे उठे हैं। वह कंपोजिटर थे और आज हिंदी के वरिष्ठ पत्रकार हैं। पहले वह अपने ही मंदिर के पुजारी थे, मगर आज वह भारत सरकार के पद्मश्री हैं। उनका जन्म कट्टर वैष्णव परिवार में हुआ, मगर आज वह व्यवहार में उदार और विचार से अत्यंत प्रगतिशील हैं। उन्होंने अपने को ही नहीं, समाज और साहित्य को भी बदलने में योगदान दिया है। उनके व्यंग्य-विनोद का साहित्य समाजनिर्माण की प्रेरणा से ही उद्भूत है।'

संपूर्ण ग्रंथ पाँच खंडों में विभक्त है—शुभकामनाएँ और संदेश; व्यक्ति, साहित्य और साधना; कृतियों का अनुशीलन; जीवन और संस्मरण; विधाएँ और कृतियाँ। 'शुभकामनाएँ और संदेश' के अंतर्गत सर्वश्री विनोबा भावे, मैथिलीशरण

गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन, पंत, रामकुमार वर्मा, नंददुलारे वाजपेयी, किशोरीदास वाजपेयी आदि प्रसिद्ध साहित्यकार, आलोचक, कवि, राजनीतिज्ञ, पत्रकारों की शुभकामनाएँ हैं। कविवर पंत जी के कुछ वाक्यों में ही व्यास जी का समग्र व्यक्तित्व और कृतित्व समाहित हो जाता है—

'जीवन संघर्ष तथा युग-समस्याओं की झाँकियाँ होने पर भी उनमें कटुता नहीं। यत्र-तत्र व्यंग्य की तीव्रता होने पर भी वह विषाक्त नहीं, सर्वत्र उन्मुक्त प्रसन्न, प्राणों को गुदगुदानेवाला हलका-फुलका वातावरण है, जो इसे और भी मनोहर बना देता है। भाषा में प्रवाह है, सजीवता है।'

'व्यक्ति, साहित्य और साधना' में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, जगजीवनराम, दिनकर, सेठ गोविंददास, बनारसीदास चतुर्वेदी, नगेंद्र, जी० पी० श्रीवास्तव, बेढब बनारसी, उपेंद्रनाथ अश्क आदि लगभग दो दर्जन साहित्यकारों के सहज उद्गार हैं जिनमें चोटी के हास्य व्यंग्यकार भी संमिलित हैं। डा० द्विवेदी ने व्यंग्य विनोदात्मक शैली में ही 'जुग जुग जिओ' का आशीर्वाद दिया है। रामनारायण अग्रवाल ने अपने लेख में मंडल (ब्रज साहित्य) के तत्वाधान में किए गए व्यास जी के कार्यों—सूर जयंती, पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ, शोध और संग्रह, मंडल का भवन, सूर साहित्य संगोष्ठी—आदि का विवरण दिया है। डा० विमलकुमार जैन ने दिल्ली में हिंदी साहित्य संमेलन के तत्वाधान में संगठन कार्य, राजभाषा संमेलन, हिंदी सलाहकार समिति, पुरुषोत्तम हिंदी भवन से संबद्ध कार्यों में व्यास जी के योगदान का मूल्यांकन किया है।

'कृतियों का अनुशीलन' के अंतर्गत व्यास जी के कृतित्व पर प्रकाश डाला गया है। प्रसिद्ध आलोचक विजयेंद्र स्नातक ने उनके काव्य पर विस्तृत प्रकाश डालते हुए स्पष्टतः लिखा है, 'आज हास्य केवल व्यंग्य-विनोद या चतुरालाप तक ही सीमित नहीं रह गया है, वह सभी क्षेत्रों में अपना प्रभाव वाग्वैदग्ध्य, चोज, कटाक्ष और प्रहार के द्वारा जमाता जा रहा है। हिंदी में इस पथ को व्यास ने जितनी शक्ति के साथ खोला और प्रशस्त किया है, उतना पहले किसी ने नहीं किया था। आज उनके साहित्य की संभावनाएँ और अधिक बढ़ गई हैं, इसलिये उनसे हिंदी जगत् और अधिक शिष्ट, संयत, सशक्त और प्राणवान हास्य की अपेक्षा रखता है।'

काव्य के अन्य पक्षों पर भवानीप्रसाद मिश्र, डा० विमलकुमार जैन, सोम ठाकुर आदि के लेख उल्लेखनीय हैं।

डा० सावित्री सिन्हा का व्यास जी के निबंधों पर आलोचनात्मक लेख है। 'अरबों के देश में', 'यत्र तत्र सर्वत्र' तथा 'नारद की खबर लाए' पर अनेक लेख संग्रहीत हैं। डा० माचवे का 'नारद के पिता : व्यास' पठनीय निबंध है।

सामान्यत: संस्मरणात्मक लेख ऐसे ग्रंथों में प्रारंभ में दिए जाते हैं, पर इस ग्रंथ में 'जीवनी और संस्मरण' शीर्षक चतुर्थ खंड में संकलित किए गए हैं।

'विधाएँ और कृतियाँ' के अंतर्गत १८ कविताएँ तथा निबंध, व्यंग्यात्मक निबंध, नारद जी खबर लाए, यत्र-तत्र-सर्वत्र, संपादकीय टिप्पणियाँ, पुण्यस्मरण, साहित्य समीक्षा स्तंभों के अंतर्गत ५-५ कृतियाँ संकलित हैं। साथ ही स्फुट निबंधों के रूप में ७ लेख भी हैं।

यह ठीक है कि इस ग्रंथ के अनुशीलन से व्यासजी के कृतित्व और व्यक्तित्व को भली प्रकार जाना पहचाना जासकता है। पर ग्रंथ के आयोजकों का यह दावा कि हिंदी भाषा और साहित्य, व्यंग्य-विनोद और हिंदी तथा विगत २५ वर्षों का भाषायी जागरण भी इस ग्रंथ के पृष्ठों पर छाया हुआ है, सर्वथा सत्य से परे है। हिंदी के हास्य व्यंग्य-साहित्य का लेखा जोखा अगर इसमें होता तो इस ग्रंथ का महत्व निर्विवाद रूप से बढ़ जाता और स्थायी साहित्य में इसका महत्वपूर्ण योगदान होता।

दिल्ली हिंदी साहित्य संमेलन की बागडोर व्यासजी के हाथों में अनेक वर्षों से है, क्या ही अच्छा होता यदि संमेलन के माध्यम से 'भाषायी जागरण' के इतिहास को भी तैयार करवा लिया जाता। दिल्ली में राजभाषा के रूप में हिंदी की प्रगति और प्रसार के मूल्यांकन के साथ भविष्य की संभावनाएँ भी रहतीं। संभवतः शीघ्रता के कारण ग्रंथ का यह पक्ष रह गया अन्यथा निःसंदेह इसका मूल्य बढ़ जाता। वैसे व्यास जी को और उनके कृतित्व को समझने की दृष्टि से ग्रंथ का महत्त्व निर्विवाद है। साथ ही उनकी कृतियों का आस्वादन भी एक स्थान पर किया जा सकता है।

ग्रंथ की साजसज्जा तथा गेट अप सराहनीय है। कागज अच्छा है, मुद्रण में तो मानदंड प्रस्तुत किया गया है। अशुद्धियाँ बहुत कम हैं, फिर भी न मालूम कैसे वर्तनी की एकरूपता के पोषक आचार्य किशोरीदास वाजपेयी को 'किशोरीलाल वाजपेयी' रूप में छाप दिया गया है। अंत में इतने सुंदर ग्रंथ के लिये मैं अभिनंदन ग्रंथ समिति के संयोजक संपादक श्री गोविंदप्रसाद केजरीवाल तथा प्रकाशक को बधाई देना चाहता हूँ।

—कैलाशचंद्र भाटिया

सुलतान और निहालदे

लेखक—लक्ष्मीनिवास बिरला; प्रकाशक—नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली; पृष्ठ संख्या २२६; मूल्य ५)।

प्राचीन साहित्य के अक्षयभंडार भारतवर्ष में लोककथाओं का विशेष महत्व है। विभिन्न राज्यों में ये लोककथाएँ लगभग सदृश प्राप्त होती हैं। प्रादेशिकता

प्रतिवेदन और वस्तुविन्यास आदि का उनमें अंतर रहता है जो युग की गति और उसके आचार विचार का प्रभाव मात्र है। इस अंतर के होते हुए उनमें जो एकसूत्रता रहती है उससे यह स्पष्ट होता है कि आज के निरंतर गतिशील वैज्ञानिक युग के साथ चलता हुआ भी जनमानस अपना गौरवमय अतीत, अपनी परंपरा और अपने जातीय जीवन को विस्मृत नहीं कर पाया है, अपितु उनके प्रति आस्थावान है। इस प्रकार की कथाओं में कथा का नायक समाज द्वारा स्वीकृत अच्छे नैतिक मूल्यों और परंपराओं के वीर रक्षक के रूप में प्रतिष्ठित किया जाता है। विश्वसनीय और अविश्वसनीय संघर्षों के सहारे मानवजीवन का चित्र उभरता जाता है, कथा आगे चलती रहती है और विभिन्न घटनाओं की प्रतिक्रिया के आसपास कथानायक के चरित्र का ताना बाना तैयार होता जाता है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का सहारा लेकर पात्रों का चरित्रचित्रण करते हुए आभ्यंतर मन की कुंठाओं को उभार कर सामने रखना और परिस्थितियों के माध्यम से समस्याएँ उभारना आधुनिक उपन्यास-नाटकों में कलात्मक ढंग से पाया जाता है पर अनेक कथाओं की स्थिति इससे एकदम विपरीत है।

'सुलतान और निहालदे' की गाथा राजस्थान और उसके पार्श्ववर्ती अंचलों की अत्यंत लोकप्रिय कथा है। प्रस्तुत पुस्तक उसी दंतकथा के आधार पर लिखी लेखक की अँगरेजी रचना का हिंदी रूपांतर है। लेखक ने कथा-प्रवाह और चरित्रों को युगानुरूप साँचे में ढाला है और लोककथा के आधि-भौतिक शक्तिसंपन्न नायक को समाज के नैतिक मूल्यों की रक्षा और मानव कल्याण के लिये संघर्षरत उदारचेता मानव के रूप में चित्रित किया है। पुस्तक में मध्ययुग का वातावरण सजीव है। सरल रोचक ढंग से लिखी यह गाथा मानवमन की स्वाभाविक अनेकरूपता को सरल भाषा में व्यक्त करती है। भूमिका में लेखक ने लोककथा के ऐतिहासिक पक्ष पर विचार किया है।

—विश्वनाथ त्रिपाठी

हिंदी व्यंग्य विनोद

संपादक—गोपालप्रसाद व्यास; प्रकाशक—भारतीय साहित्य मंदिर, फव्वारा, दिल्ली; पृष्ठ २६६, मूल्य ८)।

संपादक श्री व्यास का कहना है कि 'हास्यरस लिखना शायद सबसे कठिन है' (भू० पृ० ६)। बात पते की भी है। यदि अपने एक वर्ग नारी समाज पर कीचड़ उछालना ही हास्यरस है, यदि आधुनिक सभ्यता का विरोध ही हास्यरस है तो एक ओर जहाँ हम 'तियछवि छाया ग्राहिनी' जैसी पुरानी मान्यताओं के शिकार हो जाते हैं, वहीं इतिहास की गति के प्रति भूल करने लगते हैं। कवि कहता है—

मेरे ख्याल से जब गोरा इस भारत से मुँह मोड़ चला
अपना प्रचार करने को तब ये गोरी गोरी छोड़ चला
सच पूछो तो ये गोरी गोरी गोरों की एजेंट हैं सब
यों चले गए पर नहीं गए, वे गोरे काफी चंट हैं जब
जो लाया था सब छोड़ गया खुद बिलकुल कोरा चला गया।
(श्री कुल्हड़, गोरा गोरा चला गया, पृ० ४६)

ऐसे कथन में भूमिका में निर्दिष्ट यह खतरा स्पष्ट उभर उठा है—'शिष्टता और सामाजिकता को भूले कि अश्लील और फूहड़ हुए' (पृ० ६)। मर्यादाभंग की आशंका हमेशा रहती है, विशेषतः नारीपरक हास्य कविताओं में। उनके शील और संमान का ध्यान रखते हुए लिखा गया साहित्य ही उच्चकोटि का हास्य साहित्य होगा। प्रस्तुत कविता इसका उदाहरण है—

तुम ट्यूब और मैं टायर
तुम वेद वाक्य का गान मधुर मैं हूँ बेधड़क सटायर
तुम मक्खन सी सुंदर सफेद मैं च्यवनप्राश हूँ काला
तुम नमक सुलेमानी सुमधुर मैं हूँ गर्म मसाला
(श्री बेधड़क बनारसी, तुम और मैं, पृ० १४२)

अर्थ में गंभीर स्तर पर ये पंक्तियाँ सामाजिक वैषम्य पर तीखा व्यंग्य उपस्थित करती हैं। मानसिक स्वास्थ्य प्रदान करनेवाला ऐसा हास्य भी सुंदर है—

इस तरह यह है चमकती खोपड़ी
देख सकते आप अपना रूप है
चाँद पर है चाँदनी मानो पड़ी
आइना इसको लगे हैं मानने
हैं बनाया हाथ से भगवान ने
(श्री बेढब बनारसी, गंजी खोपड़ी, पृ० १३३)

कुल मिलाकर संग्रह का आयाम इतना व्यापक है कि उसमें हास्य और व्यंग्य के बहुरूपी नमूने आ गए हैं। वैविध्य खड़ी बोली, ब्रज, अवधी और राजस्थानी के ही कारण नहीं है काव्य के कारण भी है। एक ओर जहाँ संग्रह में लोकस्वरों का हास्य काव्य है तो दूसरी ओर अत्यंत प्रयोगशील हास्य व्यंग्यपूर्ण कविताएँ भी हैं और एडवर्ड लीयर की ऊलजलूल (नौनसेंस) कविताओं से प्रभावित तुकक भी हैं। इस प्रकार छंद और भावों के पुराने नमूनों के साथ अधुनातन प्रयोगसिद्ध हास्य और व्यंग्य संग्रह में आया है। प्रयोगशील कवियों का हास्य व्यंग्य शिष्ट तो है ही, समाज के व्रणों को उघाड़ने की भी इसमें क्षमता है। जैसे—

तीन गुण हैं विशेष कागज के फूल में
एक तो उगते नहीं हैं कभी धूल में
दूजे झड़ते नहीं
काँटे गड़ते नहीं—
तीजे आप चाहें उन्हें लगालें बबूल में
(श्री भारतभूषण अग्रवाल, पाँच मुक्तक, पृ० १५५)

संग्रह के प्रारंभ में संपादकीय उपस्थापना है, जिसमें कुछ विचारणीय बातें भी हैं जैसे 'क्या छायावाद द्विवेदी कालीन इतिवृत्तात्मकता के ऊपर सजीव व्यंग्य नहीं था?' (पृ० ७)। इस प्रकार तो प्रत्येक साहित्यधारा अपनी पूर्ववर्ती साहित्यधारा पर व्यंग्य हुआ करती है, पर व्यंग्य का जो अर्थ संग्रह में अभीष्ट है, उससे यह बात भिन्न हो जाती है।

कुछ आनुषंगिक बातें काव्य (या साहित्य) में अंग्रेजी के शब्द प्रयोग विषयक भी हैं। वाइफ, रोमांटिक, वलगर, फादर, पोस्ट, लेटर, फास्ट फ्रेंड, रश, आदि के धाराप्रवाह प्रयोग (पृ० ४८) का औचित्य सिद्ध नहीं होता।

संग्रह यद्यपि हमारे हास्य व्यंग्य साहित्य का दिशानिर्देश करता है, पर भाव-वैविध्य से प्रतिनिधित्व में बिखराव सा आ गया है।

ग्रंथ शोभन और स्वच्छ होते हुए भी अधिक मूल्य का है। साहित्य के समुचित प्रचार प्रसार में अधिक मूल्य एक बहुत बड़ी बाधा है।

—श्रीप्रसाद

काव्यात्मक बिंब

लेखक—अखौरी ब्रजनंदन प्रसाद; प्रकाशक—ज्ञानलोक, कुल्हड़िया हाउस, अशोक राजपथ, पटना-४; पृष्ठ २१६, डिमाई; मूल्य १०)।

जैसा कि नाम से ही प्रकट है, प्रस्तुत पुस्तक में आधुनिक कतिपय कविताओं में आए बिंबों को सामने रखा गया है और यह बताने का प्रयास किया गया है कि उनके कारण काव्य अधिक आकर्षक हो उठता है। अंगरेजी समीक्षाशास्त्र में बिंब (इमेज) की बड़ी महिमा गाई गई है। हर्बर्ट रीड, एजरा पाउंड आदि विद्वान् इसके प्रशंसक हैं। इसमें संदेह नहीं कि बिंब-निर्मिति से काव्य में चारुता आजाती है, इसे सामान्य पाठक भी अच्छी तरह समझता है, किंतु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि बिंबविधान आधुनिक कविता की ही देन है, या यह पश्चिमी काव्य के प्रभाव का परिणाम है। संस्कृत के प्राचीन काव्यों में इसका ग्रहण जितनी प्रचुरता और इच्छता से हुआ है उसके सामने आधुनिक कविता में

कतिपय स्थलों पर आए बिंब न उतने आह्लादकारक हैं और न उतने प्रभावशाली। यह समझना भी भारी भूल होगी कि प्राचीन काव्यसमीक्षकों या आचार्यों की दृष्टि से ये उपेक्षित रहे।

लेखक ने पुस्तक को १. काव्य और बिंब, २. सृष्टि और विधान, ३. प्रकृति और स्वरूप, ४. काव्यात्मक बिंबों के प्रकार, ५. काव्यात्मक प्रतीक, ६. युग और उनका आदिरूप बिंब की सिद्धांत, ७. काव्य, संगीत तथा बिंब और ८. काव्यात्मक बिंब तथा रससिद्धांत की कुछ समस्याएँ नामक आठ अध्यायों में पूर्ण किया है। लेखक ने प्राचीन संप्रदायवादियों की भाँति आरंभ में ही यह भी कह दिया है—

'काव्य की आत्मा बिंब है क्योंकि बिंब की सर्जना से ही कवि-हृदय में रसोद्रेक होता है, और इसका समुचित संप्रेषण भी बिंबनिर्माण से ही संभव है, जिससे पाठक-हृदय में भी रसानुभूति हो सकती है' (पृ० २६)।

कहीं कहीं लेखक ने विभिन्न लेखकों के बिंबविधान की विशेषताएँ दिखाई हैं और कहीं दो कवियों के बिंबनिर्माण की तुलना करके किसी को उत्तम और किसी को प्रभावहीन कहा है। काव्यगत कतिपय अन्य विशेषताओं के दिग्दर्शन के लिये बहुतेरी अंगरेजी की कविताएँ भी उद्धृत की गई हैं। पुस्तक साहित्य के विद्यार्थियों के लिये पठनीय है।

—लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी'

हिंदी साहित्य : युग और धारा

लेखक—कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध'; प्रकाशक—भारती भवन, पटना—४; पृष्ठ ६६४; मूल्य ८)५०।

यह पुस्तक हिंदी साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों, परंपराओं और विधाओं के विकास पर लेखक के निबंधों का संकलन है। अपने समन्वित रूप में ये निबंध हिंदी साहित्य की ऐतिहासिक झाँकी भी प्रस्तुत करते हैं। लेखक ने अधुनातम सामग्री को समेटने का प्रयत्न किया है।

पुस्तक विद्यार्थियों के लिये है किंतु लेखक पूर्वाग्रहों और वैयक्तिक मतों से बच नहीं सका है, पुस्तक में यत्रतत्र इसका निदर्शन मिल जाता है।

हिंदी की प्रमुख साहित्यिक संस्थाओं पर लेखक ने एक निबंध दिया है। भाषा और साहित्य के विकास का अध्ययन इन संस्थाओं के कार्यों की पृष्ठभूमि के बिना पूरा नहीं होता।

आपेक्षिकता की मूल संकल्पनाएँ

मूल लेखक—बर्ट्रेंड रसेल; अनुवाद—श्रीमती निर्मल जैन; प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली–६; पृष्ठ १७०; मूल्य ६) ।

प्राकृतिक और मानवविज्ञान के क्षेत्रों में नवीन अनुसंधानों के फलस्वरूप ज्ञान की विपुल राशि एकत्र होती जारही है। इस ज्ञानराशि को उन क्षेत्रों में काम करनेवाले विशेषज्ञ तो आसानी से आत्मसात् कर लेते हैं किंतु सामान्य जन उससे वंचित ही रह जाता है। ज्ञान के इस विकास के फलस्वरूप जीवन और जगत के प्रति हमारी परंपरित धारणाओं में जो परिवर्तन होता जारहा है उसका परिचय सामान्य जन भी पाते रहें, मानव जीवन की प्रगति के लिये यह अत्यंत आवश्यक है। इसी लक्ष्य को सामने रखकर पश्चिमी जगत में जनप्रिय विज्ञान की पुस्तकें लिखने की परंपरा का विकास हुआ। बर्ट्रेंड रसेल की 'ए बी सी ऑव् रिलेटिविटी' इसी परंपरा की एक महत्वपूर्ण रचना है जिसका अनुवाद श्रीमती निर्मल जैन ने किया है। अनुवाद में जिस भाषा का प्रयोग किया गया है वह न केवल पारिभाषिक शब्दों से लदी है बल्कि अप्रचलित कृत्रिम शब्दों के प्रयोग से प्रायः क्लिष्ट और कहीं कहीं अस्पष्ट भी हो गई है। इस अनूदित पुस्तक को पढ़ने में 'आपेक्षिकता' के अत्यंत दुरूह माने जानेवाले सिद्धांत को (जिसे रसेल ने बहुत सरल ढंग से समझाने की कोशिश की है) समझने का आयास करना पड़ेगा।

विज्ञान की पुस्तकों का अनुवाद करते कराते समय पहले यह निर्णय कर लेना चाहिए कि पुस्तक जनसामान्य के लिये है अथवा उस विषय के विद्यार्थियों के लिये। अनुवाद की भाषा शैली उसी प्रकार की होनी चाहिए। भारत में जनसामान्य के वैज्ञानिक ज्ञान का जो स्तर है उसे देखते हुए लोकप्रिय विज्ञान की पुस्तकों की भाषा और शैली विशेष रूप से सरल और सुबोध होनी चाहिए।

जुलूस

लेखक—फणीश्वरनाथ रेणु; प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी; प्रथम संस्करण १९६५; पृष्ठ १८८; मूल्य ३) ५०।

जुलूस रेणु की औपन्यासिक कृति है। इसमें उपन्यासकार ने एक बार पुनः अपने जीवन परिवेश के निकट अनुभव को कलाकृति के रूप में ढालने की कोशिश की है, किंतु भिन्न धरातल पर। समकालिक भारतीय सांस्कृतिक जीवन की एक अत्यंत महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना है पाकिस्तान के विस्थापितों का भारत में पुनर्वास—सामुदायिक संस्कृतियों का संक्रमण। जुलूस का मुख्य विषय सांस्कृतिक संक्रमण की इस प्रक्रिया के एक चित्र का उद्घाटन है।

रेणु द्वारा प्रस्तुत प्रत्येक व्यक्ति अपने परिवेश के एक तत्व के रूप में चित्रित होता है और उसकी प्रतिक्रियाएँ समष्टिधर्मी हैं। व्यक्ति की मनोभूमि में गहरे उतरना उपन्यासकार का लक्ष्य नहीं। पवित्रा इसका अपवाद लगती है किंतु है नहीं। वास्तव में वह व्यक्ति का अतिक्रमण कर प्रतीक बन जाती है—*समन्वय और विकास के लिये खुली हुई भारतीय संस्कृति का प्रतीक।* अपने छोटे छोटे ऋजु इतिहासों को लिए हुए जुलूस के व्यक्ति विविध और सजीव हैं और मन पर उस जीवन की छाप छोड़ते हैं *जिसमें वे साँस ले रहे हैं।*

जुलूस शुद्ध आँचलिक उपन्यास तो नहीं ठहरता किंतु स्थानीय परिवेश काफी उभर कर आता है।

जुलूस की भाषा वर्णनात्मकता से मुक्त होकर मानसिक अनुभूतियों की लय के निकट है। भाषा मितव्ययिता के साथ स्थूल और सूक्ष्म बिंबों को रूपायित करती चलती है जिससे उपन्यास का अधिकांश बिंबों की एक सुंदर शृंखला बन जाता है। हिंदी के बिहारी और बंगाली लहजे तथा कुछ क्षेत्रीय शब्दों के द्वारा लेखक भावबोध के अनेक नवीन आयाम प्रस्तुत कर सका है।

विश्लेषण (अर्धवार्षिक)

संपादक—जयनाथ 'नलिन'; प्रकाशक—पंजाब हिंदी साहित्य अकादमी, विश्वविद्यालय प्रांगण, कुरुक्षेत्र; वर्ष १, अंक १; वार्षिक ५) एक अंक २)५०।

इधर हिंदी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में जिस तीव्र गति से शोध कार्य हो रहा है उसे देखते हुए हिंदी की वर्तमान शोधपत्रिकाएँ अपर्याप्त हैं। इस बात का अनुभव शोधपत्रिका का प्रत्येक संपादक करता है। ऐसी स्थिति में पंजाब हिंदी साहित्य अकादमी की ओर से 'विश्लेषण' का प्रकाशन स्वागतार्ह है। प्रवेशांक लघुकाय होते हुए भी उच्चस्तरीय है। आशा है हिंदी भाषा और साहित्य के विकास में यह सहायक सिद्ध होगा।

—कुँवरजी अग्रवाल

❀

वार्षिक विषयसूची

निबंध

अंक—१

१. हिंदी नाट्य साहित्य में विवृत महाराष्ट्र का इतिहास
—श्री प्रभुदास रा० भुपटकर ... १
२. 'पृथ्वीराजरासउ' के कुछ शब्दार्थों पर पुनर्विचार
—श्री शंभुसिंह मनोहर ... २१
३. महाकवि भूषण का कालनिर्णय—डा० काशीनाथ केलकर ३६
४. 'भरतविलास' का रचयिता—श्री सियाराम तिवारी ... ५२
५. वर्णरत्नाकर की श्रेणी के पूर्ववर्ती ग्रंथ
—डा० भुवनेश्वरप्रसाद गुरुमैता ... ५७
६. प्रेमरत्न और उसकी रचयित्री—डा० पूर्णमासी राय ... ७२
७. हिंदी और मलयालम में समान पुर्तगाली शब्द
—श्री वेल्लायणि अर्जुनन् ... ८६

अंक—२

८. अपभ्रंश भाषा के क्षेत्रीय भेद : समस्या और समाधान
—श्री जगदीशप्रसाद कौशिक ... १
९. दयाराम सतसई—श्री महावीर सिंह चौहान ... १४
१०. राउलवेल का कवि : रचनास्थान और वस्तुविषय
—डा० हरीश २६
११. ब्रह्मवैवर्त की प्रतीकित राधा—श्री गोपालजी 'स्वर्णकिरण' ४६

अंक—३

१२. रत्नाकर जी का उद्धवशतक—श्री रुद्र काशिकेय ... १
१३. घन आनंद कौन थे?—श्री नवरत्न कपूर ... २३
१४. कीर्त लक्ष्मी रो संवाद—श्री मोहनलाल पुरोहित ... ५६

अंक—४

१५. असमिया वैष्णवधर्म का क्रमविकास—डा० कुबेरनाथ राय १
१६. ढोला मारू रा दूहा में सामाजिक जीवन
—श्री कृष्णबिहारी सहल ... २३
१७. वर्णरत्नाकर की श्रेणी के परवर्ती वर्णक ग्रंथ
— डा० भुवनेश्वरप्रसाद गुरुमैता ... ३७

१८. शब्दाकलन के सिद्धांत तथा कामायनी का शब्दभंडार
—श्री जगदीशप्रसाद कौशिक ... ७१
१९. अन्यनाट्य शिल्प—श्री शांति मल्लिक ... ८८
२०. डोगरा राजवंश और संस्कृत
—श्री गंगादत्त शास्त्री 'विनोद' ... ९८

पौराणिकी

(आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के पत्रसंग्रह से)
अंक १–४ ... क्रमशः १०९,७९,९७ तथा १११

विमर्श

अंक – १
१. औचित्य विमर्श— श्री शिवकुमार मिश्र ... १२६
२. एक प्राचीन गीतकार : रामसखे
— श्री गौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर' ... ११०

अंक —२
३. 'भक्तावली' में वर्णित चरनदास जी का चरित्र
—श्री वेदप्रकाश गर्ग ... ८७
४. क्या जनमेजय परीक्षित कुरु का पुत्र था ?
—श्री वेदप्रकाश गर्ग १०६

अंक —३
५. सेवाहितदास की रचनाएँ—श्री कैलाशचंद्र शर्मा ... ७५
६. मोहन साँई कृत 'अरस बेगम सार' : एक परिचय
—श्री देवकीनंदन श्रीवास्तव ... ७९
७. पुलिस—श्री अजयमित्र शास्त्री ८५
८. कामायनी में प्रत्यभिज्ञा—डा० राममूर्ति त्रिपाठी ... ८८

अंक —४
९. 'ब्रह्मवैवर्त की प्रतीकित राधा'—डा० संपूर्णानंद ... ११९
१०. प्रेमरत्न और उसकी रचयित्री

चयन तथा निर्देश अंक १–४ ... क्रमशः १३४,१०८,९४ तथा

समीक्षा

अंक—१
१. व्यवधान—श्री सुधाकर पांडेय १३७
२. प्रासाद मंडन—श्री व्रजमोहनलाल १३८

३. जैन भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि—श्री विश्वनाथ त्रिपाठी ... १३१
४. अक्का महादेवी के वचन— ,, ... १३६
५. सती पद्मावती (महाकाव्य)— ,, ... १४०

अंक—२

६. दूषणोल्लास—डा० राममूर्ति त्रिपाठी १११
७. अपभ्रंश भाषा का अध्ययन—डा० शिवप्रसाद सिंह ... ११५
८. कबीर—डा० नागेंद्रनाथ उपाध्याय १२०
९. हिंदी के स्वीकृत प्रबंध—श्री विष्णुकांत शास्त्री ... १२३
१०. द्विवेदीयुग की हिंदी गद्यशैलियों का अध्ययन
—डा० रामनरेश वर्मा ... १२४
११. कोहबर की शर्त—श्री विश्वनाथ त्रिपाठी ... १२६
१२. वे दिन ,, ... १२७
१३. एक पंखड़ी की तेज धार ,, ... १२७
१४. एक कटी हुई जिंदगी : एक कटा हुआ कागज
—श्री विश्वनाथ त्रिपाठी ... १२८
१५. धीरे बहे दो न रे—श्री प्रवासी १२८
१६. लोककथाओं के रूढ़ तंतु—श्री श्रीप्रसाद ... १३०
१७. उपन्यासकार प्रेमचंद ,, ... १३१
१८. लालबहादुर शास्त्री : महाप्रयाण—श्री कुँवरजी अग्रवाल १३१
१९. रूपकों की भाषा ,, ... १३२
२०. नवरस रंग ,, ... १३२
२१. प्रतिनिधि संकलन—कविता : मराठी— ,, १३२
२२. विवेक के रंग ,, ... १३३
२३. अंधा चाँद ,, ... १३३
२४. विस्मृति के पंख ,, ... १३३
२५. बाल रामायण ,, ... १३४
२६. दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ ,, ... १३४
२७. प्राथमिकी ,, ... १३४
२८. प्रेत ,, ... १३४
२९. रात की बाँहों में ,, ... १३५

अंक—३

३०. हिंदी सर्वदर्शन संग्रह—श्री करुणापति त्रिपाठी ... १०१

३१. सांख्ययोग का जीर्णोद्धार—श्री वररुचि ... १०३
३२. बुंदेलखंड की प्राचीनता—श्री करुणापति त्रिपाठी ... १०७
३३. पाणिनिपरिचय—श्री लालधर त्रिपाठी प्रवासी ... १०८
३४. कामायनी चिंतन ,, ... ११०
३५. कल्पवृक्ष—श्री त्रिलोचन ११४
३६. आत्मजयी ,, ... ११५

अंक—४

३७. व्यास अभिनंदन ग्रंथ—श्री कैलाशचंद्र भाटिया ... १२६
३८. सुलतान और निहाल दे—श्री विश्वनाथ त्रिपाठी ... १२८
३९. हिंदी व्यंग्य विनोद—श्री श्रीप्रसाद ... १२९
४०. का व्यात्मक बिंब—श्रीप्रवासी ... १३१
४१. हिंदी साहित्य : युग और धारा—श्री कुंवरजी अग्रवाल १३२
४२. आपेक्षिकता की मूल संकल्पनाएँ— ,, ... १३३
४३. जुलूस ,, ... १३३
४४. विश्लेषण ,, ... १३४